आर्यघोष

आर्यन मैनिफेस्टो

मदनमोहन विद्यासागर

तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि,
ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्।
अनुल्वणां वपत जोगुवामपो,
मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्।।

ऋ0 10-53-6

हे प्रिय! इस चहल-पहल वाले संसार में अपनी करनी करता हुआ, तू प्रकाश का अनुसरण कर। बुद्धि से आविष्कृत ज्योतिर्मय मार्गों की रक्षा कर। निरंतर कार्य व्यरत जनों के उलझन-रहित कर्मों-व्यवहारों को आगे चला। इस प्रकार, मनुष्य बन और दिव्य जन - आर्य सन्तान को उत्पन्न कर।

elibrary.thearyasamaj.org

आर्यन मैनिफेस्टो

(आर्य समाज सम्मत, भारतीय संस्कृत्यनुमोदित श्रौत मानवधर्म की रूपरेखा)

मदनमोहन विद्यासागर

प्रकाशक : वैदिक प्रकाशन,
दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा,
15 हनुमान रोड, नई दिल्ली-110001,
Website : www.thearyasamaj.org
E-mail : aryasabha@yahoo.com

नया संस्करण : 2015

मूल्य : 30 रुपये

elibrary.thearyasamaj.org

पुस्तक का इतिहास
(हिन्दी तृतीय संस्करण की भूमिका)

भारतीय सम्वत् 1865 शक, तदनुसार ईसवी सन् 1943 दीपावली पर *'आर्यसमाज क्या चाहता है'* शीर्षक मेरा एक लेख आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर, जो कि अब पाकिस्तान में है, के मासिक पत्र आर्य के विशेषांक में मुद्रित हुआ था। उसमें सार रूप से ऋषि दयानन्द सम्मत सब मुख्य-मुख्य आर्य सिद्धांतों का संग्रह था। सब विद्वानों ने उसकी प्रशंसा की। आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद (उस समय निजामराज्य) के साप्ताहिक पत्र आर्यभानु ने उसका अक्षरशः पुनः प्रकाशन किया।

फिर भार. सं. 1870 शक, ई. सन् 1948 में उसका संशोधन संवर्धन करके *'आर्यन मैनिफेस्टो'* (आर्यसमाज परिचयम्) नाम से तेनाली आन्ध्र प्रदेश के प्रसिद्ध प्रेस भारती प्रेस से तेलगू भाषा में प्रथमवार ट्रैक्टरूप में उसका मुद्रण हुआ। इसका वहां की जनता ने अच्छा स्वागत किया। प्रचार में यह ट्रैक्ट बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। इसका तेलगू अनुवाद आन्ध्रप्रदेश के सुप्रसिद्ध दार्शनिक-योगी आर्य विद्वान् श्री गोपदेव जी ने किया था।

इसे प्रचार में उपयोगी जान, मैंने इसका हिन्दी संस्करण भार. सं. 1873, ई. सन् 1951 में *'आर्यन मैनिफैस्टो'* इसी नाम से प्रेम मंदिर-प्रकाशन, तेनाली (आन्ध्र प्रदेश) से अपने व्यय से

निकाला। तेलगू भाषा के संस्करण से यह संस्करण कुछ बड़ा था। जिसने देखा, मेरे प्रयत्न और संकल्प को सराहा तथा प्रचार के लिए अत्यंत उपयोगी बताया। दिवंगत श्रद्धेय स्वामी स्वतंत्रतानन्द जी महाराज (दयानन्दमठ, दीनानगर), मेरे अग्रज श्री सत्य प्रकाश, एम.ए. (गुरुदासपुर) तथा मेरे पिता श्री नन्दलाल आर्य (लुधियाना) ने कुछ उत्तम सुझावों के साथ इसके पुनः प्रकाशन की सलाह दी परंतु वैसा मैं कर न सका।

इसका किंचित्संक्षिप्त रूप आर्य प्रतिनिधि सभा, लखनऊ (उत्तर प्रदेश) के प्रसि द्ध आर्य पत्र 'आर्य मित्र' के विशेषांक में *'आर्य समाज का सैद्धान्तिक दृष्टिकोण'* शीर्षक से भार. सं. 1877 शक., ई. सन् 1955 में छपा। उक्त प्रशंसित सभा ने प्रचार के लिए उपयोगी समझ ट्रैक्ट रूप में उसकी 25000 प्रतियां छपवाई और गुजरात प्रदेश के सूरत नगर की किसी आर्य सभा ने इसी शीर्षक से गुजराती में इसकी 3000 प्रतियां छपवाई।

इसी बीच *'आर्य सिद्धांत प्रदीप'* (भार. सं.1876, ई. सन् 1954) तथा आर्य सिद्धान्त मुक्तावली' (भार. सं. 1878, ई. सन् 1956) नामक मेरे दो और ग्रन्थ प्रसिद्ध हए। इनके संशोधित संस्करण भी प्रकाश में आने वाले हैं।

आर्य प्रतिनिधि सभा, पूर्व अफ्रिका नैरोबी के निमंत्रण पर 29 ज्येष्ठ, 1880 शक, तदनुसार 19 जून 1958 को धर्मप्रचारार्थ मैं नैरोबी, केनिया उपनिवेश में आया। तब से कई मित्रों का आग्रह था कि प्रचारार्थ एक छोटी पुस्तिका हिन्दी-गुजराती-अंग्रेजी में छपाई जावे, जिसमें अत्यंत संक्षिप्त तथा प्रामाणिक रूप में आर्य समाज का परिचय हो। इससे 'आर्यन मैनिफेस्टो' के पुनः प्रकाशन

का निश्चय किया गया और एक बार फिर इसकी भाषा, भाव और शैली तीनों का परिष्कार किया। अब तक के निरंतर स्वाध्याय एवं विद्वानों के संग से महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यानुसार आर्य समाज के स्वरूप को जैसा समझ सका हूं, ध र्म प्रेमी जनता की सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूं। इसे तो आर्य सिद्धान्तों की भूमिका मात्र समझना चाहिए। इसको रचने का यही प्रयोजन है कि संक्षेप से एक स्थान पर सब आर्य सिद्धान्तों का संग्रह उपलब्ध हो। मैंने प्रयत्न किया है कि आर्य समाज के सभी मुख्य सिद्धान्त इसमें समाविष्ट हों जावें तथा कोई मुख्य विषय छूट न जावे। लिखने में पर्याप्त सावधानी, उचित-विचार और दीर्घश्रम किया गया है यह इस पुस्तक के आद्योपान्त ध्यान पूर्वक पढ़ने से प्रतीत होगा। साथ इसके पाठ से आर्य समाज का विशाल सार्वभौम रूप विश्व के सामने आवेगा और तब यह स्पष्ट होगा कि क्यों आर्य समाज विश्व के अन्य सम्प्रदायों से जगत का अधिक उपकारी है तथा ऋषि दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना करके संसार का कितना महान् उपकार किया है।

यह एक ऐसा 'आर्य सिद्धान्तों का परिचय ग्रन्थ' है, जो हर देश हर व्यक्ति के मानव के बोध योग्य और उसके जीवन का उन्नायक है। मेरी इच्छा है कि प्रत्येक आर्य सभासद् इसकी दो प्रतियां सदा अपने पास रक्खें और अपने साथ घूमते-फिरते व उठते-बैठते व्यक्ति को देता रहे।

विजया दशमी 11-10-59 - मदनमोहन विद्यासागर

elibrary.thearyasamaj.org

भूमिका

संसार में आजकल बहुत से समाज हैं जो मनुष्य मात्र की आध्यात्मिक, शारीरिक, भौतिक, आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति करने का दावा रखते हैं। उन्हीं में से एक आर्य समाज भी है। जनता यह जानना चाहती है कि हर समाज का कार्यक्रम क्या है और उसके सम्पादन की विधि क्या है हर समाज अपने-अपने लक्ष्य-विज्ञापन (Manifesto) प्रकाशित किया करता है।

वैदिक धर्म के प्रसिद्ध प्रचारक श्री पं. मदनमोहन विद्यासागर भारत, ब्रह्मदेश, अफ्रीका आदि में बहुत दिनों से सफलता पूर्वक प्रचार करते रहे हैं। आप एक विचारशील विद्वान् तथा प्रभाव-युक्त प्रचारक है। इस पुस्तिका में इन्होंने संक्षेप से आर्य समाज के सिद्धांतों तथा लक्ष्यों की रूपरेखा प्रदर्शित की है। आशा है जनता आर्य समाज तथा अन्य समाजों के तुलनात्मक तथा सापेक्षिक मूल्य का अंकन करके वैदिक धर्म की ओर प्रवृत होगी।

प्रयाग **-गंगाप्रसाद उपाध्याय**

ओ३म्

विषय-प्रवेश

भारतवर्ष★आर्यों का आदि देश" है। आर्य का अर्थ है- ''श्रेष्ठ स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्य गुणविद्यादि गुण, गुण युक्त अर्थात् धर्म न्याययुक्त नियमों में चलने वाले शांतिप्रिय और समाज का अभ्युदय चाहने वाले उत्तम नागरिक।'' मानव सृष्टि होने के बाद जिन्होंने भिन्न-भिन्न गुण-कर्म-स्वभाव एवं रुचियुक्त भी व्यक्तियों को मिलाकर सामूहिक तौर पर सर्वोदय के निमित्त 'समाज' का संगठन किया, उन्हें भी 'आर्य' कहते हैं।

ये मानव जाति के पूर्वज (मूल पुरुष) सब से पहले त्रिविष्टप (तिब्बत अर्थात् हिमालय के विस्तृत प्रदेश) पर प्रगट हुए। इस आर्य-जाति से पहले इस भूमण्डल (संसार) में और कोई मानव समुदाय नहीं था। कालान्तर में जनसंख्या बढ़ जाने पर ये आर्य ही सर्वत्र भूमण्डल पर फैल गये और इस आर्य जाति के ही

★वर्तमान 'भूमान चित्र' में 'इराक' ईरान, अफगानिस्तान, पाकिस्तान, हिन्दुस्तान, बर्मा, नेपाल, भूटान, तिब्बत, लंका, राष्ट्रों का निदर्शक समस्त भूभाग प्राचीन काल में भारतवर्ष या आर्यावर्त कहाता था।

"मानव जाति का मूलस्थान।

भिन्न-भिन्न 'भूभागों' (देशों) में भिन्न-भिन्न नाम हो गये।

सर्गारम्भ में एक पुरुष और एक स्त्री नहीं, किन्तु अनेक स्त्री पुरुष उत्पन्न हुये। वे सब तरुणावस्था में अमैथुनीसृष्टि द्वारा पैदा हुए थे। फिर परस्पर सम्बन्ध (=मैथुनी सृष्टि द्वारा अर्थात् परिणत हो गई। यदि आदि मानव बाल्यावस्था में उत्पन्न होते; तो उनकी पालना कौन करता और ये ज्ञान का विकास कैसे करते हैं? यदि वृद्ध होते, तो आगे सन्तति न चलती। इसलिए उस समय सभी स्त्री पुरुष तरुण पैदा हुए थे।★

यह बात निश्चित है कि सर्गादि में किसी के उपदेश (अर्थात आदि ज्ञान) के बिना किसी मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता; कोई भी मनुष्य विद्वत्ता नहीं प्राप्त कर सकता और किसी मनुष्य को ग्रंथ रचने का सामर्थ्य नहीं हो सकता। जैसे मानवों के भाषणादि व्यवहार के सम्पर्क से दूर एकान्त में रखने से एक बालक को कुछ भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता, न बोलचाल का व्यवहार की आता है और जैसे बनों में रहने से बिना उपदेश के कारण, मनुष्यों की प्रवृत्ति पशुओं की न्याई देखने में आती है,॥ वैसे *ईश्वरीय ज्ञान* (=वेदों के उपदेश) के बिना सृष्टि के आदि से लेकर आज तक सब मनुष्यों की प्रवृत्ति होती। जैसे इस समय

★तरुण का अर्थ, सोलह या पच्चीस वर्ष की आयु नहीं है इसका अर्थ, सन्तानोत्पति के सामर्थ्य-युक्त व्यक्ति (=स्त्री तथा पुरुष)

॥यथा, भारतवर्ष में कोल, भील, लम्बाड़े आदि बनवासी व अन्य आदिम जातियां। इसी प्रकार अफ्रीका महाद्वीप के मूल निवासी आज से 50 वर्ष पूर्व, पाश्चात्य जातियों व भारतीयों के सम्पर्क से पूर्व, अधार्मिक, अशिक्षित अज्ञानी, पशुओं की न्याई प्रवृति रखते थे।

किसी शास्त्र को पढ़के, किसी का उपदेश सुनके और मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों को देखकर ही सब मनुष्यों को ज्ञान होता है, ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य होता है, अन्यथा नहीं, वैसे ही सृष्टि के आदि में यदि ईश्वरीय ज्ञान (वेदों) का उपदेश न होता, तो आज पर्यन्त किसी मनुष्य को धर्मादि विषयों की यथार्थ विद्या न आती। इसके अतिरिक्त सृष्टि के आरम्भ में पढ़ने-पढ़ाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी और न कोई विद्या का ग्रंथ ही था; इसलिए सृष्टिकर्त्ता ईश्वर का मनुष्यों को ज्ञान देना आवश्यक था। ईश्वर प्रदत्त उपदेश (=वेदज्ञान) ही आदिमानव समुदाय का पथप्रदर्शक हो सकता है।

इस ज्ञान के आधार पर इन आर्यों ने परस्पर मिलकर कुछ कायदे-कानून, विधि-विधान, आचार-विचार, आहार-विहार और वेश-भूषा के नियम नियत किये; 'जीवन का आदर्श' निश्चित किया, 'जीवन का दर्शन' विकसित किया। आर्यों के इस तत्व विचार का नाम 'आर्य सिद्धान्त संग्रह' है।

अत्यन्त प्राचीनकाल में इन आर्य सिद्धान्तों का प्रचार सर्वत्र भूगोल पर था और सबकी उसी एक वेदोक्तमत में निष्ठा थी, सब एक दूसरे का सुख-दुख, हानि-लाभ आपस में अपने समान समझते थे। तभी भूगोल में सुख था, सर्वत्र शांति थी। फिर वे आर्य, जनसंख्या अधिक बढ़ जाने से और एक प्रदेश में जीवन निर्वाह की असुविधा होने के कारण, चारों तरफ बिखर गये। फिर मूल से सम्बन्ध टूट जाने के कारण, धीरे-धीरे नाना सभ्यताओं तथा मत-मतान्तरों का प्रादुर्भाव हुआ और जिससे बहुत सा दुःख और विरोध बढ़ गया। एक ही आर्य-जाति के कई टुकड़े हो गये।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि-

(1) मानव जाति का आदि उत्पत्ति स्थान भारतवर्ष या आर्यावर्त्त है।

(2) मानव समाज में दिखने वाली भिन्न-भिन्न जाति-उप-जातियों के मूल पुरुष आर्य हैं।

(3) सब सभ्यताओं एवं संस्कृतियों की आदि जननी आर्य सभ्यता एवं आर्य संस्कृति है।

(4) सब मतों का आदि स्त्रोत वेद है।

(5) सब दार्शनिक सिद्धान्तों के मूल आर्य सिद्धान्त हैं।

भारतवर्ष में महाभारत से पूर्व तक आर्य-धर्म, आर्य-संस्कृति, आर्य-सभ्यता और आर्य-दार्शनिक विचारधारा का समस्त भारतीय-जीवन में प्रभाव था। तब यहां सर्वत्र सुख था, धर्म-राज्य था, न्याय शासन था, सबको सर्वविध उन्नति का पूर्ण अवसर था और सबकी अपनी-अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार समाज में प्रतिष्ठा थी। यहां भी फिर धीरे-धीरे मत-मतान्तरों का जन्म हो गया; देश में अविद्या-अज्ञान छा गया, कुरीतियां बढ़ गई, धार्मिक जीवन में मूढ़ विश्वास तथा पाखण्ड अधिक आ गया। धर्म के विलुप्त हो जाने से अर्थ-काम की मर्यादा टूट गई, धर्मानुसार अर्थ-काम का सम्पादन न रहने से★ मोक्ष प्राप्त करने (अर्थात उन्हें भोग कर उनमें त्याग) की भावना नष्ट हो गई। यह देश अनेक प्रकार के बंधनों में जकड़ा गया और भारतवर्ष में सृष्टि के प्रारंभ से चलने वाली आर्य-जाति निस्तेज, मन्द-मति, बलहीन हो कर परतंत्र हो गई।

★अर्थात् त्याग पूर्वक भोग के स्थान पर 'भोग के लिए भोग' की प्रवृत्ति बढ़ जाने से।

ऋषि दयानन्द अवतरण और आर्य समाज-स्थापना

संसार और भारतवर्ष की ऐसी बिगड़ी दशा में महर्षि दयानन्द का प्रादुर्भाव पवित्र, आर्य भूमि के वर्तमान सौराष्ट्र प्रदेश के मौरवी संस्थानान्तर्गत टंकारा ग्राम में ईसवी सम्वत् 1824 के प्रारंभ में हुआ। विश्व और भारत देश की दयनीय विकृत दशा को देखकर उस पतित पावन पवित्रात्मा अमृत पुत्र ऋषि के हृदय में करुणा का संचार हुआ और उसने संसार के उपकार करने अर्थात् सबकी शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति के लिए पुनः एक वैज्ञानिक योजना (या कार्यक्रम) बनायी, ताकि संसार के त्रिविधि-दुखों[1] का संकट कट जावे; मानव जाति की दशधा पापों[2] से विमुक्ति हो जावे; और अशांत क्षुब्ध संत्रस्त संशयिता विश्व में समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृभाव का प्रसार होकर सबको राहत मिले।

यह दिव्य दृष्टि उस ऋषि को निरंतर तपःस्वाध्याय करने के पश्चात् वेद द्वारा मिली। इसलिए उसने वेद के आधार पर मानव धर्म तथा मानव संस्कृति का प्रचार प्रारंभ किया और संसार को बताया कि वेद सम्मत आर्य सिद्धान्त ही मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति की दिशा बताने वाले हैं। विश्व इन सिद्धान्तों को भूल चुका था और ईश्वरीय ज्ञान के आधार पर 'प्रथमा मानव संस्कृति' का विकास और प्रचार करने वाली इस पावन स्थली पर उस वेद धर्म का स्वरूप वेदों का पठन-पाठन न होने से अत्यंत विकृत हो चुका था। दयासागर ऋषि ने उसका शुद्ध रूप विश्व की जनता के सामने रखा और उन

1.2 आगे लक्षण किया गया है।

आर्य सिद्धान्तों के प्रचार के निमित आर्य-जनों का एक संगठन बनाया। यह *'आर्य समाज'* नाम से जगत में प्रसिद्ध है। इसकी स्थापना ईसवी सन् 1875, चैत्र सुदी पंचमी को सर्व प्रथम बम्बई नगर में हुई। इसके संस्थापक महर्षि दयानन्द वर्तमान युग में मानववाद के सबसे प्रथम मुख्य और प्रभावशाली प्रचारक हुए हैं।

महर्षि दयानन्द देशकालानुसार समुचित कर्म करने वाले महामानव थे, आदर्श यथार्थ दोनों के कान्तदर्शी ज्ञात थे। इसलिए उन्होंने जिस जीवन दर्शन (फिलासफी ऑफ लाइफ) का प्रचार किया, उसमें भौतिकवाद और अभौतिकवाद (अर्थात् अविद्या एवं विद्या, प्रकृतिवाद एवं ईश्वरवाद, संसारवाद एवं अध्यात्मवाद या जड़वाद एवं चेतनवाद) दोनों को उचित स्थान है। मानव जीवन के सब पहलू 'भौतिक तथा अध्यात्म' इन दो वादों के अन्तर्गत आ जाते हैं।

मानव जीवन में 'अर्थकाम' की उचति व्यवस्था एवं पूर्ति अर्थात् सब मानवों के 'अन्न, वस्त्र, निवास, रक्षण, शिक्षण प्रमोद' का मुख्यतया प्रबन्ध कर देने मात्र से मनुष्य सुखी रह सकता है और 'धर्ममोक्ष' तो धूर्तों की भोली जनता को ठगने वाली मीठी बातें हैं, ऐसा चार्वाक मुनि से लेकर महान् आत्मा कार्लमार्क्स तक के भौतिकावादी मानते हैं। मानव जीवन में 'धर्ममोक्ष' की सिद्धी कर लेना ही मनुष्य को परम सुख दे सकता है, 'अर्थकाम' तो स्वप्नवत् मिथ्या या रज्जु में सर्प की भ्रान्ति की तरह है; 'ब्रह्मरस' पीने मात्र से जनकल्याण हो सकता है, शेष सब गौण व निरर्थक है, ऐसा भी शंकराचार्य से लेकर श्री

रामकृष्ण परमहंस के शिष्यों तक का मत है।

सत्यवादी यथार्थ दृष्टा तत्ववेत्ता योगीश्वर महर्षि दयानन्द इन दोनों दृष्टि कोणों के सन्तुलित समन्वय से जन-कल्याण अर्थात् विश्व में सच्ची शांति और सुखकारी व्यवस्था की योजना करना चाहते थे तथा जीवन के आदर्श आचार-विचार एवं कर्त्तव्य कर्मों का विधान चाहते थे। ताकि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के उचित मेल से मानव जीवन मे पूर्णता आवे। आर्य सिद्धान्त संग्रह तो एक सर्वांगीण क्रमबद्ध शास्त्र है; स्वयं पूर्ण जीवनदर्शन है दुनियां इसको भूल एंकागी जीवन की अभ्यस्त हो रही थी। महर्षि ने आर्य समाज का संगठन करके ऐसी दुनिया के सामने सर्वविध उन्नति द्वारा सुख का सीधा सच्चा सरल मार्ग खोल दिया।

दूसरी बात यह है कि महर्षि दयानन्द के कार्य क्षेत्र में अवतरण के समय संसार में स्वाधीन-पराधीन (अर्थात शासक शासित) रूप में राजनैतिक ऊंच-नीच का भाव, जात-पात के रूप में सामाजिक ऊंच-नीच का भाव, काले-गोरे के रूप में वर्ण संबंधी ऊंच-नीच भाव, मजदूर-पूंजीपति (अर्थात् संचित-वंचित वर्ग) के रूप में आर्थिक ऊंच-नीच का भेदभाव भयानक रूप से मानव-जाति की उन्नति में बाधा बना हुआ था। महर्षि दयानन्द ने सच्चे मानों में वैदिक साम्यवाद का सीधा सच्चा सरल मार्ग खोल दिया।

elibrary.thearyasamaj.org

आर्य समाज का स्वरूप

आर्य समाज एक *'सार्वभौम आस्तिक धर्मसंस्थापक संघ'* है; जो सृष्टि को रचने वाली सर्वोपरि एक दिव्य चेतन शक्ति तथा जनहित के लिए, उसके दिये आदि ज्ञान (कल्याणी वाणी वेद) को स्वीकार करता है। उस आदि ज्ञान या दिव्य उपदेश को अपने कार्य कलाप, क र्त्तव्य, विधि-विधान व दार्शनिक सिद्धान्तों का आधार मानता है। यह 'सत्य सनातन वेदमत' (=धर्म) को मानव के अभयुदय (=मोक्ष) का साधन मानता है।

शुद्ध प्रजातन्त्र प्रणाली के आधार पर आर्य समाज का संगठन हुआ है। क्योंकि यह मानव जीवन के हर पहलू पर मनुष्य का पथ-प्रदर्शन करता है, इसलिए इसका सदस्य बनने से मनुष्य की हर प्रकार की कामनाओं की पूर्ति होती है। यह इस युग के विचार और जीवन दिशा में आमूलचूल परिवर्तन लाने वाली एक निराली प्रगतिशाली सर्वोत्तम परोपकारी क्रांतिकारी संस्था है।

मानव जीवन का उद्देश्य

(धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ)

इस दृश्यादृश्यमान चराचर जगत् में समस्त जीवधारी प्राणियों अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमिकीटादि, मत्स्य-पंतग पिपीलिकादि के आवागन का प्रयोजन (पर्पस) अपने शुभा-शुभ कर्मों के सुख-दुःखात्मक फलों को भोग कर मोक्ष प्राप्त करना अर्थात् जन्म-मरण के बंधन से छूट नियत काल तक निरंतर स्वतंत्रता पूर्वक परमेश्वर के सुख ही सुख में विचरना है।

मानव जीवन का उद्देश्य (एम) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चार पुरुषार्थ की प्राप्ति करके आनन्द भोगना है, अर्थात धर्म, भाव से अर्थ काम रूप विषय सुख का भोग और फिर इनमें काम्य बुद्धि का नाश करके स्वतंत्रता पूर्वक मुक्ति का आनन्द ही आनन्द लूटना है।

धर्मः- न्यायाचरण, पक्षपात रहित सर्वहित करने की भावना, जिससे सब भूतों में आत्म दर्शन और आत्मा में विश्व-दर्शन हो। सामाजिक दृष्टि से परोपकारयुक्त त्यागभाव, जिससे सब एक-दूसरे में धारित हों।

अर्थः- उदर पूर्ति के लिए भोगैश्वर्य का सम्पादन तथा संग्रह सामाजिक दृष्टि से सर्वोदय के लिए बनी राजनैतिक शासन व्यवस्था।

कामः- स्त्री पुरुष की समस्त इन्द्रियों की परस्पर अनुरक्ति या आकर्षण की पूर्ति के लिए मार्यादित विषय भोग का सम्पादन। सामाजिक दृष्टि से सदाचार की रक्षा के निमित्त बनी विवाह व्यवस्था।

मोक्ष :- 'अर्थ-काम' को संयम पूर्वक भोगने के बाद अपने मन व बुद्धि को उनके वासना विष से पृथक करके शाश्वत् सुख प्राप्ति का प्रयत्न करना। सामाजिक दृष्टि से आगामी सन्तति के लिये उन्नति का अवसर देने के निमित्त सांसारिक सम्बन्धों का त्याग।

यही पुरुषार्थ है अर्थात् मानवमात्र-स्त्री पुरुष के जीवन का आदर्श है। आर्य समाज सबको धार्मिक विद्वान् आप्त पुरुष बनाना चाहता है। सब स्त्री पुरुषों को अर्थ (=अन्न-वस्त्र-निवास-

रक्षण- शिक्षण-प्रमोद) सम्पादन तथा काम (=स्वाभाविक विषयेच्छा या परस्पर सम्मिलन का आकर्षण) तृप्ति का सामानावसर और समानाधिकार देता है और इतना देने के बाद सबको इन सब बन्धनों से पृथक् हो मोक्ष प्राप्ति का उपाय बताता है। कितना स्पष्ट सुसंगत और सुन्दर जीवन का आदर्श है। यदि मानव जाति इनकी सिद्धी में प्रवृत हो तो फिर सर्वत्र शांति हो; संसार से असंतोष, ईर्ष्या वैर-कलह मतभेद मिट जावें। भूमि पर स्वर्ग उतर जावे और सब मनुष्य इन्द्र अर्थात् सर्व साधन सम्पन्न ऐश्वर्य शाली सुखी बन जावें।

ब्रह्मचर्य साधना, व्यभिचार निवृत्ति, अग्निहोत्रादि यज्ञों से वृष्टि द्वारा उत्तम अन्नप्राप्ति और उसके उपभोग द्वारा उत्तम आरोग्य प्राप्ति करने से तथा प्रयत्न पूर्वक तन, मन, धन और आत्मा द्वारा ईश्वर के साहय्य से पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि होती है। साथ ही इन चारों पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है। प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्मचर्य अर्थात् विद्याध्ययन काल में धर्म सम्पादन, गृहस्थ अर्थात विवाहित जीवन में धर्मानुसार अर्थकाम का उपभोग, वानप्रस्थ में धर्मानुसार उपर्युक्त अर्थकाम सम्बन्धी कर्मों से विमुखता और सन्यास अर्थात् जीवन के अन्तिम भाग में कर्मफलों तथा विषयवासनाओं के त्याग द्वारा मोक्ष सम्पादन★ कर सकता है। इसी में मानव जीवन की श्रेष्ठता, उच्चता और पूर्णता है। इस प्रकार यही जीवन की चरमावधि है।

★अर्थात् जन्म मरणातीतदशा या विदेहावस्था, भवचक्रनिरोध, कर्मबन्धनोच्छेद द्वारा त्रिविध दुःख से अत्यन्तविमोक्ष।

आर्य सिद्धांतों के मूल दार्शनिक आधार

(1) जड़चेतन- क्योंकि सृष्टि में जड़ चेतन रूप द्विविध ातत्वों का मेल दृष्टिगोचर होता है, इसलिए आर्य समाज विश्व के समस्त पदार्थों को जड़ और चेतन (चर-अचर, क्षर-अक्षर, विनाशी-अविनाशी) दो वर्गों में विभक्त करता है।

जड़- अर्थात प्रकृति। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, प्रथिवी आदि, वृक्ष-वनस्पति आदि और प्राणियों के नाना शरीर आदि सब प्राकृतिक पदार्थ।

चेतन- अर्थात् शरीर इन्द्रिय और मन से युक्त मनुष्य पशुपक्ष्यादि प्राणीवर्ग और 'शरीर इन्द्रिय और मन', से रहित सृष्टिकर्त्ता 'ओ३म' जिसका मुख्य निज नाम है, ऐसा ईश्वर।

क्योंकि यह विश्व जड़-चेतन दोनों का मेल है, इसलिए इनमें से किसी एक ही तत्व के आधार पर बना जीवन दर्शन पूर्ण सुसंगत और वैज्ञानिक नहीं हो सकता। ऐसा दर्शन तो जीवन की अधूरी व्याख्या संसार की उन्नति का अधूरा उपाय बतावेगा।

(2.) सुख-दुःख - क्योंकि सृष्टि में सुख-दुःख दोनों दिखाई देते हैं, इसलिए आर्य समाज जीवन को सुख-दुःख मिश्रित मानता है। 'सर्व दुःखम्, अनित्यं च' केवल ऐसा संसार नहीं है। यदि सृष्टि के सुख-दुःख की तुलना की जावे, तो सुख कई गुणा अधिक उपलब्ध होता है।

इसलिए केवल-सुखवाद या केवल-दुःखवाद के आधार पर बना जीवनदर्शन पूर्ण, सुसंगत और वैज्ञानिक नहीं हो सकता। ऐसा दर्शन तो जीवन की अधूरी व्याख्या और संसार की उन्नति

का अधूरा उपाय बतावेगा।

(3) पाप-पुण्य - क्योंकि सृष्टि में पाप-पुण्य दोनों पाये जाते हैं; जगत् केवल-पापमय या केवल-पुण्यमय नहीं, इसलिए आर्य समाज जीवन को पाप-पुण्य मिश्रित मानता है।

इसलिए जीवात्मा (सोल या रूह) को जन्मतः पापवान् या पुण्यवान मानकर बना जीवनदर्शन पूर्ण, सुसंगत और वैज्ञानिक नहीं हो सकता। ऐसा दर्शन तो जीवन की अधूरी व्याख्या और संसार की उन्नति का अधूरा उपाय बतावेगा।

आर्य सिद्धान्तों का जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण

(1) प्रवृत्ति-निवृत्ति- क्योंकि 'इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न जीव के स्वाभाविक गुण हैं अर्थात् उसकी सत्ता के लिंग है; इसलिए सृष्टि में आकर, जन्म पाकर पुरुषार्थ में प्रवृत्त होना आवश्यक है। जीव की कर्म में प्रवृत्ति सहज है और क्योंकि 'धर्म' द्वारा अर्थकाम में प्रवृत्त होने के पश्चात् इनके परिणाम स्वरूप सांसारिक सुख दुःख के भोग से 'मोक्ष' (अर्थात् मोचन, मुक्ति छूटना-पृथक् हो सुख ही सुख में स्वतंत्रता पूर्वक विचरना) मानव जीवन का परम-उद्देश्य है, इसलिए सृष्टि में आकर, जन्म पाकर अर्थात् प्रवृत्त होकर भी इनसे निवृत्त-विरक्त होना अवश्यक है।

इस प्रकार 'जीवन की पूर्णता' के लिए 'प्रवृत्ति-मार्ग तथा निवृति मार्ग' दोनों का सामंजस्य जरूरी है। जन्म पाना, प्रवृत्ति का द्योतक और अभ्यास वैराग्य द्वारा निवृत्ति प्राप्त करने का साधन है। ब्रह्मचर्य आश्रम 'प्रवृत्ति' की तैयारी और गृहस्थाश्रम 'प्रवृत्त'

का प्रयोजक है; वानप्रस्थाश्रम 'निवृत्ति' की तैयारी और सन्यासाश्रम 'निवृत्ति' का साधनाक्षेत्र है। ब्रह्मचर्य 'धर्म' सम्पादन का शिक्षण केन्द्र है; गृहस्थ धर्मानुसार 'अर्थकाम' के उपभोग की नाट्यशाला है, वानप्रस्थ सांसारिक विषयों से सर्वात्मना निवृत्ति का अभ्यास कर 'मोक्ष' का प्रवेश द्वारा और सन्यास 'मोक्ष' का साधना मंदिर है। इस प्रकार आर्यदर्शन इन दोनों में समन्वय करता है।

(2) त्याग भोग- सृष्टि में त्याग और भोग दोनों प्रकार के कर्म चल रहे हैं। कुछ द्रव्य, त्याग कर रहे हैं। कुछ भोग रहे हैं। मनुष्य को दोनों प्रकार के कर्म करने चाहिए। 'संसार भोग' पाप नहीं 'संसार त्याग' पुण्य नहीं। दोनों का समय है। जीवनचक्र में दोनों का महत्व है; सृष्टि चक्र में जीवन के डोल भरते हैं और खाली होते हैं। विवेक दोनों में मेल के बिन्दु का निदर्शन करता है। सफल जीवन इन दोनों प्रकार के कर्मो की संगति है। इसी का नाम यज्ञमय जीवन बिताना है। यज्ञ का अर्थ है, देवपूजा-संगतिकरण-दान। देवपूजा अर्थात् मन, इंद्रियों और दैवीशक्तियों का सुख के लिए सदुपयोग; संगतिकरण अर्थात अपने को भोग और त्याग में संगत करना; दान अर्थात् भोग के लिए प्राप्त पदार्थो का बांट कर उपयोग। त्याग और भोग में कितना सुन्दर तथा वैज्ञानिक समन्वय है!

आर्य सिद्धान्तों में जीवन की पूर्णता का निर्देश

व्यक्ति और समष्टि में समन्वय रूप से है। परहित अर्थात समाज की भलाई या स्वस्थ समाज निर्माण में स्वहित

अर्थात् व्यक्ति का श्रेय या व्यक्तित्व विकास देखना ही 'अभ्युदय' और इन दोनों से ऊपर उठ, अपने को सर्वोपरि शक्ति के सान्निध्य में रखना 'निःश्रेयसाधिगम' है। व्यक्ति समाज के लिए अपने व्यक्तित्व को समाप्त कर दे और समाज प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के सर्वविध पूर्ण विकास का अवसर दे, साधन सामग्री प्रस्तुत करे, इसी में जीवन की पूर्णता या सार्थकता है।

आर्य सिद्धान्तों के निर्णायक-तत्व

विचार और आस्था, तर्क और विश्वास, मेधा और श्रद्धा तथा विवेक और भक्ति दोनों हैं। किसी विषय के सम्यग्-ज्ञान या सृष्टि के यथार्थ ज्ञान के लिये पहले तर्क, वादविवाद, सुसंगत, वैज्ञानिक पद्धति से विचार, मेधा-बुद्धि का युक्त उपयोग आवश्यक है। तर्क ही ऋषि अर्थात् मार्ग-दर्शक होता है। इस प्रकार सम्यग् ज्ञानोपलब्धि करके उस सत्य पर आचरण के लिए अडिग, श्रद्धा, अटूट भक्ति, दृढ़विश्वास, दीर्घ अखंड आस्था की आवश्यकता है। जब तक 'तर्क और विश्वास' या 'मेधा और श्रद्धा' में समन्वय नहीं होता, तब तक मनुष्य जीवन अपूर्ण और नीरस रहता है। केवल श्रद्धा से जीवन में जड़ता आ जाति है और मनुष्य की उन्नति के द्वार बन्द हो जाते है, केवल तर्क से जीवन खण्ड-खण्ड या अस्त-व्यस्त हो जाता है।

जब तक कोई व्यक्ति ऊपर लिखी बातों को ध्यान में नहीं रखता, तब तक न तो वह अपने जीवन का समुचित विकास ही कर सकता है और आर्य सिद्धान्तों की शुद्ध दार्शनिकता तथा

आर्य संस्कृति की श्रेष्ठता को समझ सकता है। ऋषि दयानन्द ही वह महान् दार्शनिक आप्त व्यक्ति हैं, जिसने इन मूल दार्शनिक आधारों को इस युग में खोजा और इनमें समन्वय स्थापित किया। इसी कारण मानव जीवन के प्रति उस मनीषी धीर ऋषि का दृष्टिकोण अत्यन्त विशाल एवं व्यापक, तथा आर्य सिद्धान्तों की उनकी व्याख्या अधिक क्रमबद्ध और सुसंगत है। संक्षेप में सत्य यह है कि इन सिद्धान्तों को जीवन में घटाये बिना विश्व में स्थिर शांति और सर्वोदय किसी भी मूल्य पर सम्भव नहीं।

सृष्टि के मूलकारण-ब्रह्म, जीव, प्रकृति

आर्य समाज की दृष्टि में सृष्टि या ब्रह्माण्ड के मूल तीन कारण हैं। वह इन तीनों शक्ति तत्वों को गुण, लक्षण तथा कर्मों की भिन्नता के कारण परस्पर भिन्न, किन्तु अनादि और अविनाशी मानता है। जिसमें

(1) प्रकृति- इस स्थूल संसार का उपादान कारण जड़ है और भोगने योग्य है। अर्थात जीवात्मा का भोगायतन या जीव के शुभाशुभ कर्मों के सुख दुःखात्मक फलों की भोगस्थली है, कर्मक्षेत्र है और परिवर्तनशील है।

(2) जीव- साधारण कारण, कर्त्ता, भोक्ता, चेतन पर अल्पज्ञ है।

(3) ईश्वर- निमित्त कारण, सृष्टिकर्त्ता, व्यवस्थापक, साक्षी, चेतन, कर्माध्यक्ष है।

प्रकृति के सर्वस्थूल एवं पंचतन्मात्रा रूप में सूक्ष्म, जीवात्मा

के सूक्ष्म और परमात्मा के सूक्ष्तम होने से आर्य समाज तीनों को क्रमशः परिणामशील (प्रकृति), अपरिणामशील किन्तु परिच्छिन्न (जीव) और परिणाम-परिच्छेद रहित विभु (ईश्वर) मानता है। तीनों स्वरूप से अनादि, अनन्त (ईश्वर के सर्वज्ञ होने से उसके ज्ञान में संख्येय) और नित्य हैं अर्थात् इन तीनों की स्वतन्त्र पृथक् सत्ता (स्थिति) है। जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण-कर्म-स्वभाव भी नित्य होते हैं। प्रकृति सत्स्वरूप है, जीव सच्चित्स्वरूप है और ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है। इस मर्मतत्व को समझ लेना ही तीनों शक्तितत्वों की ध्रुव धारणा का सत्य ज्ञान करना है।

क्योंकि यह विश्व जड़-चेतन दोनों का मेल है, इसलिए किसी एक तत्व जड़ या एक तत्व चेतन से 'विश्व की पहेली' बूझना तर्क विरुद्ध, अवैज्ञानिक और कार्य कारण के सर्वमान्य नियम का तिरस्कार है और इसलिए एक तत्व के आधार पर विश्व की सब समस्याओं का पूर्ण, सुसंगत एवं वैज्ञानिक समाधान नहीं हो सकता।

elibrary.thearyasamaj.org

आदिमूल, ईश्वर=ओंकार या परब्रह्म

सब सत्सविद्या और जो पदार्थ, विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदिमूल ईश्वर है। आर्य समाज की दृष्टि में दृश्या-दृश्यमान प्रपंच की नियामक वह सर्वोपरि आदि प्रेरक दिव्य चेतन-शक्ति, सच्चिदानन्दादि लक्ष्णायुक्त है। इसके गुणकर्म, स्वभाव और स्वरूप पवित्र एवं सत्य हैं। यह नित्य, अद्वितीय, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, अनादि, अनन्त; आदि सत्य गुणों वाला है; यह अकारण कारण अर्थात् स्वयम्भू, अविनाशी, अपरिवर्तनशील अर्थात् अपरिणामी, ज्ञानी अर्थात सर्वज्ञ, आनन्दी, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव, त्रिकालातीत, न्यायकारी, दयालु तथा अजन्मा आदि स्वभाव वाला है और उसका कर्म जीवों के कल्याणार्थ जगत् की उत्पत्ति, पालन, विनाश करना तथा सब जीवों को उनके कर्मानुसार सत्य न्याय से पाप पुण्य के फल ठीक-ठीक देना है। वह सगुण, निर्गुण और निराकार है। वह दयालु, न्यायकारी, एक अकेला, निर्लिप्तद्रष्टा, सक्रिय पर स्वयं स्थिर, सर्वशक्तिमान् पर नियमानुसार सृष्टिकर्त्ता, महमा से प्रगट अजन्मा, नितनूतन सनातन पुरुष, निर्विकार और एकरस है। जीव के जन्म मरण की बागडोर उसी के हाथ में है।

'ओंकार, शब्द उसका सवोत्तम नाम है, इस एक नाम से उसके बहुत से नाम आ जाते हैं और इससे उसके असंख्य गुण कर्मों का परिचय हो जाता है। वेद, शतपथादि ब्राह्मणग्रन्थ तथा उपनिषदादि शास्त्रों में और गीता आदि ग्रन्थों में उसका वास्तविक नाम 'ओ३म' ही बताया है। यों ज्ञानियों ने उस एक ही सृष्टि

कर्त्ता की अनेक नामों से स्तुति, प्रार्थना, उपासना की है। परमेश्वर के नामों का अर्थ जानकर उसके गुणकर्म स्वभाव के अनुकूल अपने गुणकर्म स्वभाव को करते जाना ही परमेश्वर का नाम स्मरण है। यदि मनुष्य उसके एक नाम के भी अर्थ को अपने में धारण करे, तो उस एक नाम के (जाप या स्मरण) से भी उसका कल्याण हो सकता है।

एकेश्वरवाद के श्रुतिसम्मत तथा युक्तियुक्त होने से अनेकेश्वरवाद की कल्पना सर्वथा व्यर्थ और अमाननीय है। ऐसे ही स्वभावतः अजन्मा होने से उसका (मनुष्य या पशु-पक्षी) किसी भी योनि में जन्म नहीं माना जा सकता है। वह अवतार न लेता है, न लेने की आवश्यकता है और न ले सकता है। जन्म अथवा अवरण नहीं होता अर्थात् वह जीव के समान जन्म, बाल्य, तारुण्य, प्रौढ़ता, वार्धक्य, मरण' में नहीं आताः क्योंकि उसने जन्म या अवतरण के हेतु कोई कर्म नहीं किये तथा उसके जन्म या अवतरण की व्यवस्था करने वाला कोई नहीं। निराकार सृष्टिकर्त्ता सर्वशक्तिमान् उस परमेश्वर का भवचक्र में आना जाना या जन्म मरण कभी शास्त्र या युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकते। क्योंकि इसका भाव होगा-'ईश्वर का परिमित समय के लिए देहधारी बनना।' यह तर्क विरुद्ध है, क्योंकि वह देहधारी न होता हुआ भी प्रत्येक अणु में व्यापक होने से उसमें अपनी व्यवस्थानुसार यथोचित परिवर्तन कर सकता है। दूसरे, यह ईश्वर के सर्वज्ञत्व, सर्वव्यापकत्व, सर्वशक्तिमत्व और एकरसत्व आदि गुणों के विरुद्ध है।

इस प्रकार आर्य समाज की दृष्टि में वेद और युक्ति-विरुद्ध होने से मूर्ति पूजा अधर्म रूप है, निष्प्रयोजन है। यह सीढ़ी नहीं,

किन्तु एक बड़ी खाई है, जिसमें गिर कर मनुष्य चकनाचूर हो जाता है। परमेश्वर की प्राप्ति या मुक्ति की भावना से 'तीर्थ दर्शन गंगा स्नान' आदि भी निष्प्रयोजन होने से त्याज्य हैं। ये जल स्थल में बने तीर्थ तराने वाले नहीं, किन्तु डुबाकर मारने वाले हैं। इसी प्रकार कण्ठी, तिलक, धारण, क्रौस, त्रिपुण्ड्र ऊर्ध्व पुण्ड्रादि धारणा, मुद्रांकन, काबादर्शन ये सब ईश्वर भक्ति के या धार्मिकता के चिह्न नहीं हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण, बुद्ध आदि व्यक्ति उपर्युक्त गुण-कर्म-स्वभाव तथा लक्ष्णायुक्त ईश्वर के अवतार नहीं थे, क्योंकि वे जन्म-मरण वाले होने से राग-द्वेषयुक्त अर्थात् क्लेश कर्म विपाकाशयों से परामृष्ट थे। वे परोपकारी महात्मा उत्तम जन थे। इसी प्रकार विष्णु, बुद्ध तथा वर्धमान महावीर आदि युग पुरुष, सर्वज्ञ नहीं थे। ईसा मसीह ईश्वर के विशेष पुत्र या स्वयं भगवान् तथा हजरत मोहम्मद साहब उसके विशेष दूत (=खास बन्दा) तथा महात्मा गांधी उसकी विशेष विभूति आदि मान्यतायें अदार्शनिक होने से अमान्य हैं। ये सब तथा इसी प्रकार के अन्य महात्मा जरदुष्ट्र आदि उत्तम पुरुष अपने लोकोपकारक कर्मों के कारण आदरणीय और यथायोग्य अनुकरणीय हैं। परंतु इनमें से किन्हीं की मूर्तियों को चेतन या ईश्वर (=सृष्टिकर्त्ता) समझ कर पूजना अविद्या है, निष्प्रयोजन है, विषम भ्रांति है और जन सामान्य को गुमराह करना है।

इसलिए (1) श्रेष्ठ व उत्तम होने, (2) मोक्ष सुख प्राप्ति (3) विश्व विद्या की प्राप्ति (4) महाकठिन कार्यों की सिद्धी और (5) कृतज्ञता प्रदर्शन के लिए वह शक्ति जो सकल ब्रह्माण्ड का

संचालन करती है, पृथिवी पर न्याय, दया और शक्ति का प्रसार करती है; जिसकी दया व सामर्थ्य से सब जीवों (मनुष्यों व अन्य प्राणियों) के भोग के निमित्त नाना प्रकार के पदार्थ भरपूर होते हैं; सब मनुष्यों को पूर्वोक्त लक्षणायुक्त उसी परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करनी चाहिए।

जब जीवात्मा शुद्ध होकर परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है अर्थात् जब समाधिस्थ होता है, तब उसको अपना स्वरूप और पमात्मा दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। वह किसी एक ही इंद्रिय का विषय नहीं होता। जैसे, केवल नेत्र इन्द्रिय का विषय अर्थात् नेत्रेन्द्रिय से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि वह 'रंगरूप' से रहित है। जैसे शरीर में भूख, प्यास, दर्द आदि कोई नेत्रों से दिखने वाली वस्तु नहीं हैं, इसी प्रकर परमात्मा भी अनुभव किया जाने वाला पदार्थ है। यह सम्मिलित रूप से सर्वेन्द्रिय ग्राह्य वस्तु है।

जीव

इस सृष्टि में ईश्वर के अतिरिक्त एक दूसरी चेतन अनादि सत्ता जीव है। जो सृष्टि का निर्माण नहीं करती, परंतु ईश्वरीय नियमों के अन्तर्गत जिसके कर्म करने और (कृतकर्मों के फल) भोग के निमित्त इस सृष्टि का निर्माण होता है। ये अनेक हैं अर्थात् पृथक-पृथक हैं। मनुष्य की अल्पज्ञता की दृष्टि से इनकी संख्या अनन्त है।

जीव परिच्छिन्न, एकदेशीय, अत्यन्तसूक्ष्म परिमाण वाला अविनाशी और स्वभाव से पवित्र है। यह अज नित्य शाश्वत है; अल्पसामर्थ्य वाला तथा अल्प ज्ञान वाला है। 'इच्छाद्वेष-सुख-दुःख-ज्ञान प्रयत्न' इसके लिंग है। यह कर्मफल अर्थात् अपने किये शुभाशुभ

कर्मों को सुख दुःख के रूप में अनिवार्य रूप से न न्यून न अधिक भोगता है। वह इच्छा शक्ति वाला है अर्थात् कर्म करने में स्वतंत्र और फल भोगने में परमेश्वर की व्यवस्था में परतंत्र है।

प्रपंच अर्थात् ऐश्वरी सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर है, जैवीसृष्टि का नहीं। ईश्वर पंचभूतात्मक जगत् बनाकर वृक्षफल औषधि अन्न आदि उत्पन्न करता है, जीव इनको अपने सुख सुविधानुकुल परिवर्तित कर लेता हैं यद्यपि जीव जगत् को नहीं बनाता, तथापि सृष्टि में उपलब्ध पदार्थों को अपने भोग के निमित्त परिवर्तित कर सकता है अर्थात मिट्टी से ईंट या रूई से वस्त्र बना सकता है, पानी में से बिजली निकाल सकता है, आम से चटनी-मुरब्बे बना सकता है।

हर एक योनि में वह स्त्री-पुरुष दोनों रूपों में प्रकट होता है। जीव न स्त्री है, न पुरुष, न नपुंसक। जीव बाल नहीं, तरुण नहीं, वृद्ध नहीं, न 'स्वस्थ' या अस्वस्थ न मोटा है, न पतला है, न छोटा है न बड़ा है। जिस शरीर को धारण करता है, उसी नाम से कहा जाता है, जिस अवस्था में होता है उसी नाम से पुकारा जाता है। यह लैंगिक या दैहिक भेद स्थूल शरीर तक ही सीमित रहता है।

जीव के स्वतंत्रता से कर्म करने में समर्थ होने और परतंत्रता से कर्मफल भोगने के निमित्त, उसके किसी 'अपूर्व देह' से संयुक्त होने का नाम जन्म और जिस स्थूल शरीर को प्राप्त करके वह क्रिया करता है, उस 'वर्तमान देह' से वियुक्त होने का नाम मृत्यु है। जीव स्वरूप से न कभी मरता है और न कभी उत्पन्न होता है। अर्थात् कभी ऐसा समय नहीं रहा है, और न ऐसा समय कभी होगा जब जीव नहीं रहेगा। वह नित्य सत्पदार्थ

है। जन्म-मरण तो उसके शरीर में प्रवेश और शरीर का त्याग का नाम है।

मानव योनि में आकर वह युक्ति और ज्ञान सहित पुरुषार्थ करके अपने लिए अनुकुल (अच्छी, शुभ) व अज्ञान-पूर्वक आचरण से प्रतिकूल (बुरी, अशुभ) परिस्थिति बनाता है। वह स्वभावतः पापवान् (=सहजपापात्मा, बॉर्न सिनर, जन्मपापः) या स्वभावतः पुण्यवान् नहीं है। जन्मते समय पूर्वजन्मकृत शुभाशुभकर्मो के अनुसार पापवासनायुक्त होता है।

प्रकृति

इस दृश्यादश्यमान प्रपंच (जड़जगत् अर्थात् सूर्य-चन्द्र भूमि नक्षत्रादि, वृक्ष वनस्पति आदि और पिपीलिका से लेकर मनुष्य हस्तिपर्यन्त प्राणियों के शरीरों) का मूल उपादान कारण (मैटीरियल कॉज) प्रकृति है; जो अनादि है, अजा है। परन्तु इसका रूप बदलता रहता है। यह सूक्ष्म अनादि नित्य और परमाणुरूप है। ये परमाणु जड़, उत्पत्ति-विनाश रहित, निरवयव और नित्य हैं, नाना और असंख्यात हैं। इनके परिणाम अर्थात् पारस्परिक संयोग-वियोग के द्वारा पृथिवी-जल-अग्नि-वायु-आदि पंचभूत उत्पन्न होते हैं, जीवों के शरीर फिर इन भूतों से निर्मित होते हैं।

यह प्रकृति त्रिगुणात्मिका अर्थात् सत्व (शुद्धता, तेज, प्रकाश), रज (मध्य भाव, गति, तरलता) और तम (जड़ता, घनता, स्थिति, स्थूलता) इन तीन गुणों का संघात है। सूक्ष्म होने से इन्द्रियगोचर नहीं। इसलिए अव्यक्त और अदृश्य है। पृथिवी आदि पांच स्थूल रूपों द्वारा व्यक्त (=दृश्यमान रूप को) प्राप्त हो जाती है। इसके क्रमविकास का अन्तिम परिणाम यह स्थूल सृष्टि है।

त्रैतवाद

पूर्ववर्णित 'ओंकार' नामक सर्वोपरि चेतन दिव्यशक्ति इसकी नियामक है, जो इस प्रकृति के परमाणुओं में संयोग वियोग करके 'सर्ग-स्थिति-लय' का नियमित चक्र चलाती है।

यह जगत् रूप खेल-तमाशा (जगत्-व्यापार, सृष्टि-विलास) इन तीनों के कारण से कल्पित होता है। यह यों ही एक गोरखधन्धा अर्थात् न सुलझने वाली समस्या नहीं। यदि इनमें से किसी एक को भी निकाल दें, तो यह विशाल ब्रह्माण्ड कभी न बन सकें।

सृष्टि की रचना देखने से, जीव-आत्मा में जगत् बनाने और जड़-प्रकृति में अपने आप यथायोग्य बीजादि स्परूप बनने का सामर्थ्य न होने से, सृष्टि का कर्त्ता परम-आत्मा य ईश्वर अवश्य है ऐसा स्पष्ट सिद्ध होता है। जगत् का कर्त्ता न मानना और जगत को स्वयंसिद्ध कहना युक्तियुक्त नहीं और कार्य कारण के नियम की अवहेलना है। क्या बिना कर्त्ता के कोई कर्म और कर्म के बिना कोई कार्य, जगत् में होता हुआ दीखता है?

सृष्टि की रचना देखने से और जड़ पदार्थों में स्वयंमेव यथा योग्य भोक्ता होने का सामर्थ्य तथा सृष्टि कर्त्ता के भी स्वयं भोक्ता न होने से सृष्टि का भोक्ता कोई जीव है, जिसके निमित्त से सृष्टि का निर्माण होता है; ऐसा स्पष्ट सिद्ध होता है।

सृष्टि की रचना देखने से और चेतन शक्ति के जड़-जगत् रूप में परिवर्तित होने का सामर्थ्य न होने से, इसका कोई उपादान-कारण, जिसे प्रकृति कहते हैं; स्पष्ट सिद्ध होता है।

यदि सृष्टि से पूर्व सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के बिना अन्य कोई

भी वस्तु न होती, तो वह सृष्टि क्यों बनाता, कहां से या किससे बनाता और किसके लिए बनाता ?

यदि सृष्टि से पूर्व उपादान कारण प्रकृति के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु न होती, तो यह सृष्टि क्यों बनती, किसके द्वारा बनती और किसके लिए बनती ?

यह विश्व जड़-चेतन दोनों का मेल है; दोनों स्पष्टतया भिन्न इसमें दृष्टिगोचर होते हैं। इसलिए यह पसारा किसी एक तत्व जड़ का या चेतन का रूपान्तर नहीं हो सकता।

यह सृष्टि 'कार्य' है। कार्य बिना 'कर्त्ता' के हो नहीं सकता। क्योंकि जीव इस सृष्टि रूपी कार्य को नहीं बना सकता, इसलिए जीव से भिन्न 'केशकर्म विपाकाशय से अपरामृष्ट' और 'ज्ञान की अतिशयता वाला' ईश्वर उसका कर्त्ता है। कोई भी कर्त्ता बिना किसी साधन अर्थात् उपादान सामग्री के कार्य नहीं बना सकता अर्थात् प्रत्येक कार्य का कारण होना चाहिये। यह कारण प्रवृति है। कोई ऐसा भी होना चाहिए, जिसके निमित्त या प्रयोजन के लिए यह सृष्टि हो; वह जीव है। सृष्टि को देखकर इन तीनों की सत्ता से इंकार नहीं किया जा सकता।

सृष्टि प्रलय का चक्र

ईश्वर का कर्म सृष्टि करना है; प्रकृति का कार्य सृष्टिरूप में परिवर्तित होता है और जीव का धर्म सृष्टि में आ कर्म और भोग करना है। 'सृष्टि का होना' (बिकमिंग), 'सृष्टि का करना' (मेकिंग) और 'सृष्टि का भोगना' (इन्जॉयिंग) ये तीनों एक दूसरे से सम्बद्ध होते हुए भी निरपेक्ष हैं। 'क्योंकि यह संसार है, इसलिये जीव शुभाशुभ कर्म करके सुख-दुःखात्मक फल भोगता है। यदि

संसार (आवागमन का चक्र या जन्म-मरण) न हो, तो जीव को न दुःख भोगना पड़े और न कर्म करना पड़े। इसी प्रकार जब जीव कर्म न करे, तो संसार बनने का हेतु न रहे और फिर परमेश्वर संसार को भी न बनावे।' इस प्रकार का युक्तिक्रम अदार्शनिक और अनुभव विरुद्ध है। ये एक दूसरे के आश्रित (या सम्बद्ध) तो दीखते हैं, परन्तु एक दूसरे के हेतु या कारण भूत या एक दूसरे की अपेक्षा से नहीं होते। ये तो सहज होते हैं। ईश्वर का *'सृष्टि करना'* सहज कर्म है; प्रकृति का स्वभाव ही विकृत हो *'सृष्टि रूप होना'* है और जीव के इच्छा-ज्ञान-प्रयत्नशील होने से उसका 'सृष्टि में आवागमन' होता ही रहेगा। ईश्वर सृष्टि करता ही रहता है, प्रकृति सृष्टि रूप में परिणत होती ही रहती है और जीव कर्म करता और फल भोगता ही रहेगा।

इसलिए 'सृष्टि प्रलय का चक्र' न कभी शुरू हुआ, न कभी समाप्त होगा। सृष्टि प्रलय का यह चक्र दिनरात की तरह अनादि और अनन्त है। परंतु सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक प्रसिद्ध दिवस की तरह यह वर्तमान सृष्टि सादि और सान्त है। अर्थात जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन का प्रवाह बराबर चलता रहता है; इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के पीछे सृष्टि-प्रलय चक्र' का आदि अन्त नहीं परंतु वर्तमान सृष्टि को बने लगभग 1 अरब 97 कोटि वर्ष हुए हैं। इसे पंचागों में आर्यसम्वत् या सृष्टिसम्वत् कहा जाता है। वर्तमान युग के वैज्ञानिक भी सृष्टि की आयु लगभग इतनी ही मानते हैं।

इस ब्रह्माण्ड की रचना व इसकी अवयव भूत सभी वस्तुयें, सूर्यचन्द्र पृथिवी ग्रह नक्षत्रादि, नियम से चलते हैं। संसार में ऐसी कोई चीज नहीं, जिसे जादू और ऐसी कोई घटना नहीं जिसे मोज़जा या चमत्कार कह सकें। सब घटनायें सृष्टि नियमों के अनुकूल ही होती हैं। सृष्टि नियम कभी बदलते नहीं सदा एक से रहते हैं। ब्रह्माण्ड में होने वाली घटनायें 'कार्य-कारणभाव' से घटित होती है। इस कार्यकारण के सम्बन्ध को ठीक न जानने वालों को ही ये जादू या लीला प्रतीत होती है।

आवागमन

आवागमन का अर्थ है, आना जाना अर्थात् इस सृष्टि में बार-बार जन्म लेना। आर्य विचार श्रृंखला में यह सिद्धान्त अत्यंत महत्व का है। आर्य दर्शन को जो सर्वोच्च स्थान विश्व के दर्शनों में प्राप्त है, उसका मुख्य कारण यह 'आवागमन का सिद्धान्त' भी है। मनुष्य का यही जन्म आदिम या अन्तिम नहीं है। मनुष्य क्या है? दृश्यमान शरीर जिसका कारण प्रकृति है, वह जड़ है और भोग का आधार है। इसके अन्दर एक और शक्तितत्व है, जिसे जीव कहते हैं। इन दोनों के मेल का नाम पुरुष है।

यह देह बदलती रहती है। इसके अन्दर का आत्मा 'अबध्य, अज, नित्य, शाश्वत' है। अविनाशी आत्मा के इस पुनः पुनः देहपरिवर्तन का नाम 'पुनर्जन्म' है। इसका अभिप्राय यह है कि जीवात्मा अपने कर्मों के फलभोग के निमित्त नाना जन्म लेता रहता है अर्थात् अनेक योनियों में आता-जाता रहता है। यह 'कुदरत की लहर' (=फ्रीक औफ नेचर) नहीं। जन्म-जन्मान्तर में

आवागमन का कारण जीव के अपने कर्म ही हैं।

इस संसार में सुखी-दुःखी, धनी-निर्धन, निर्बल-सबल और विद्वान-मूर्ख रूप से दृष्टिगोचर होने वाले वैषम्य का कारण जीवों के भिन्न-भिन्न कर्म ही हैं। ईश्वर की निरंकुश-इच्छा नहीं।*

कर्म-सिद्धान्त

बिना कर्म किये कोई भी प्राणी एक क्षण जीवित नहीं रह सकता। कुछ प्राणी (पशु-पक्षी कृमिकीट आदि) बन्धन में पड़े होने से परतन्त्रता से जीवन व्यवहार (=कर्म) करते प्रतीत होते हैं अर्थात् प्रकृति को जैसे का तैसा भोग रहे हैं। परंतु मनुष्य उन्मुक्त सा स्वंतत्रता से, बुद्धि पूर्वक-कर्म करता प्रतीत होता है अर्थात् वह प्रकृति को जैसे का तैसा भोगने के अतिरिक्त अपनी सुख-सुविधा के लिए उसको नया रंग रूप दे अपने अनुकुल बना सकता है और अपने आगामी जन्म को उत्तम या निकृष्ट बनाने का स्वतंत्र अवसर रखता है। यही पॉयण्ट वह मूल परमाणु है, जिसके आधार पर *'कर्म-सिद्धान्त'* विकसित हुआ है।

दूसरे, इन्द्रियों के कुछ सहज कर्म हैं। जैसे आंख का झपकना, सुनाई पड़ना, स्वाद आना आदि-आदि। कर्मसिद्धान्त में, इनका विचार नहीं, परन्तु इंद्रियों के एक इरादे विशेष से किये गये कर्मों और उनके फलों के भोग की ही विवेचना होती है।

जीव को, जैसा वह कर्म करता है, वैसा फल अर्थात्

** जिसे भूल से ईसाई और मुस्लमान विद्वान् 'ईश्वर की सर्व शक्तिमत्ता' का लक्षण समझते हैं।*

उसके शुभाशुभ कर्म का सुख-दुःखात्मक फल न न्यूज न अधिक अवश्य भोगना पड़ता है। न ईश्वर पापों को क्षमा करता है और न कोई मध्यवर्ती पापों को क्षमा करवा सकता है। अथवा इसके लिए सिफारिश करता है। साधु सन्तों का संग, उत्तमाचरण और ईश्वर-पूजा से पाप की वासनाओं का क्षय अवश्य हो जाता है।

कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते, क्योंकि वे जड़ हैं। अपने कर्म के, इच्छानुसार फल के स्वयं निर्णय का अधिकार, जीव को नहीं। ऐसा हो, तो संसार में पाप-अधर्म-अन्याय-अत्याचार वढ़ जावे। क्योंकि, कोई भी मनुष्य अपने कर्म का बुरा फल नहीं चाहेगा। पाप और पुण्य में अदलाबदली भी नहीं होती। इसका अभिप्राय यह है कि 'पापकर्म' करने के बाद यदि कोई 'पुण्यकर्म' किया जावे, तो पूर्वकृत *'पापकर्म'* का फल कट जावे ऐसा नहीं होता। दोनों कर्मो का फल पृथक्-पृथक् अवश्य भोगना पड़ता है। यह भी ध्यान रहे कि एक के किए पापपुण्य किसी अन्य को नहीं प्राप्त हो सकते; किन्तु कर्त्ता ही अपने शुभाशुभ कर्म का फल स्वयं भोगता है।

पूर्वजन्म-कृत कर्मों में से जिन कर्मों के सुख-दुःख रूप फल वर्तमान देह के द्वारा भोगना प्रारम्भ होता है, अर्थात् जिन कृतकर्मों को भोगने के लिए यह शरीर प्रारम्भ हुआ है, वे कर्म प्रारब्ध, वर्तमान जन्म में फलापेक्षा से किये जाते कर्मों का नाम क्रियमाण और जिनका फल भोगना शेष रहा है, वे 'संचित कर्म' कहाते हैं तथा जो क्रियाकर्म की छाप मनुष्य के आत्मा या अन्तःकरण में जमा होती है, उसको वासना या संस्कार कहते हैं।

कर्मफल जाति, आयु और भोग रूप में प्राप्त होता है।

पुरुषार्थी मनुष्य आयु तथा भोग में किंचित्परिवर्तन भी कर सकता है। पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा है, क्योंकि इससे संचित कर्म और प्रारब्ध कर्म बनते अर्थात् इसके सुधरने से सब सुधरते और बिगड़ने से बस बिगड़ते हैं।

कर्म का फल नियत होने में क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं होता और जीव अपने कर्मानुसार दण्ड व प्रतिष्ठा सदा पाते रहते हैं। प्रलयावस्थ को छोड़ कर न किसी क्षण जीव अकर्मकृत् रहता है और न अपभोगवित्।

प्रत्येक कर्म का दो प्रकार का फल होता है, कार्यरूप और उदिृष्टरूप। जैसे हल चलाने का कार्य, कार्य रूप फल है, बीज पड़ने योग्य भूमि का खुद जाना और उदिृष्टफल, कालान्तर में धान्य प्राप्ति। 'पठन' कर्म का कार्य रूप फल है, परीक्षा में उत्तीर्ण होना व ज्ञान वृद्धि। यह उदृष्टिफल जीव के अधीन नहीं।

परन्तु प्रत्येक कर्म का उदिृष्टफल तत्काल या इसी जन्म में मिले, ऐसा नियम नहीं। जिन कर्मों का फल इस जन्म में नहीं मिलता, उनके फलों के भोग के लिए ही 'देहान्तर प्राप्ति' है। व्यवस्था अर्थात् परमेश्वर के न्याय और सत्य नियम का भंग हो जावे और कर्म सिद्धान्त (कर्म और फल का चक्र) न मानें, तो संसार में उपलब्ध विषमता का युक्ति तर्क संगत समाधान भी न बने। त्रैतवाद, आवागमन और कर्म सिद्धान्त मानने पर ही 'प्रपंच रहस्य की गुत्थी' खुलती है या 'विश्व की पहेली' बूझी जाती है। विज्ञान, कार्य कारण और कार्यक्रम-कर्ता का नियम तो मानों और इन तीनों सिद्धान्तों से इन्कार करें, यह अयुक्तियुक्त अनुभव विरुद्ध, अदार्शनिक है। यह तो विज्ञान की अवैज्ञानिकता होगी।

ज्ञान का आदिस्त्रोत

यह पहले ही लिख चुके हैं कि सृष्टि के आदि में उत्पन्न मनुष्यों को परमेश्वर ने ज्ञान दिया। जो, परमेश्वर अपनी वेद विद्या का उपदेश मनुष्यों के लिए न करता, तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धी किसी को यथावत् प्राप्त न होती। जैसे उस परम कृपालु परमेश्वर ने प्रजा के (=सब जीवों के) सुख के लिए कन्दमूल फल और घास आदि छोटे-छोटे पदार्थ रचे हैं, वैसे ही सब सुखों का प्रकाश करने वाली, सब सत्य विद्याओं से युक्त वेद विद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिए, वह सृष्टि के प्रारंभ में क्यों ने करता? जैसे, आंख देकर सूर्य न देता, तो व्यर्थ होता, वैसे ही बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियां देकर यदि ज्ञान न देता, तो कोई भी (मनुष्य योनि में आया) जीव अपना अच्छा बुरा न जान सकता, अपनी उन्नति न कर सकता।

इनका ज्ञान सृष्टि के प्रारंभ में अयोनिज सृष्टि में जन्म लेने वाले उन चार पवित्रातम ऋषियों के हृदय में प्रकाशित किया, जो सबसे श्रेष्ठ प्राप्त विद्वान् और धर्मात्मा थे तथा इस ज्ञान को ग्रहण करने की योग्यता (=सामर्थ्य व अधिकार) रखते थे।

अग्निऋषि को ऋग्वेद, वायुऋषि को यजुर्वेद
आदित्य ऋषि को सामवेद, अंगिराऋषि को अथर्ववेद

इन चार ऋषियों ने वेदों के ज्ञान का अन्य ऋषियों और मनुष्यों को उपदेश दिया। आर्य सामज *'ऋग्-यजु-साम-अथर्व'* नाम से प्रसिद्ध सत्यविद्या धर्मयुक्त वेदचतुष्टय अर्थात्, संहिता मात्र मंत्रभाग को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानता है। इनके प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं। सूर्य व प्रदीप के स्वरूपतः

स्वतः प्रकाश व अन्य पृथिवी आदि पदार्थों के प्रकाशक होने की तरह, वेद स्वयं प्रमाण स्वरूप हैं।

वेद ही अपौरुषेय क्यों?

(1) उनमें प्रतिपादित सब सिद्धान्त सर्वाजनिक और सार्वकालिक हैं। वे किसी देशकाल-विशेष में मानव जाति के निमित्त प्रकशित नहीं किये गये।

(2) मनुष्य के सर्वतोमुखी विकास के द्योतक हैं।

(3) इनमें वर्णित कोई भी सिद्धान्त, बुद्धि, विज्ञान व अनुभव के विरुद्ध नहीं। ये पक्षपात् शून्य, भ्रान्तिरहितज्ञान का प्रतिपादन करते हैं।

(4) इनमें सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण, प्राप्त और पवित्रात्मा के व्यवहार के विरुद्ध कोई कथन नहीं।

(5) इनमें ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव के अनुकूल ही वर्णन हैं।

(6) सृष्टि के प्रारम्भ से लेके आज तक ब्रह्मा, मनु, जैमिनी, शंकराचार्य, दयानन्द आदि जितने भी आप्त होते आये हैं, वे सब वेदों को नित्य प्रामाणिक और सर्व सत्य विद्यामय मानते आये हैं।

यदि सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ज्ञान न देता तो मानव जाति को ज्ञान न होता और न धारारूप में ज्ञान आगे बढ़ता। यदि पीछे ज्ञान देता, तो पूर्वसृष्टि उसके लाभ से वंचित रहती। बीच-बीच में ईश्वर को अपने ज्ञान देने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उस सर्वज्ञ ईश्वर का ज्ञान पूर्ण है और उसकी बात सदा

एक सी और बेभूल होती है। दूसरे, ज्ञान परम्परा से चलता है और जीव एक बार सीख कर उससे अपनी बुद्धि का स्वतंत्र विकास करता हैं जब तक हमें कोई सिखाने वाला न हो, तब तक हम लिख पढ़, सीख समझ नहीं सकते। सर्गारम्भ में सर्वज्ञ ईश्वर के सिवा, कौन मनुष्यों को ज्ञान दे सकता है? सर्ग मध्य में तो आप्त पुरुष ज्ञान प्रसार कर सकते हैं।

सबसे अधिक प्रामाणिक, सत्यार्थ युक्त और मानने योग्य मानव जाति के धर्मशास्त्र और विद्यापुस्तक, ये चार वेद ही हैं। इनसे विरुद्ध वचन चाहे किसी भी पुस्तक में पाये जावें, वे मानने योग्य नहीं हो सकते। इनका विश्व भर में प्रचार होना चाहिए और इनकी शिक्षाओं पर आचरण करना मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है। क्योंकि ये वेद ही सब को 'मानवता का संदेश' या 'विश्व धर्म का उपदेश' देते हैं। ये किसी व्यक्ति विशेष की कामनाओं की पूर्ति करने की आज्ञायें मात्र नहीं। ये किसी देश या जाति के किसी काल विशेष के इतिहास ग्रन्थ नहीं। इनमें उस सार्व भौम नीति व सत्य धर्म का प्रतिपादन है, जिनसे सब देश कालों के मनुष्य समान रूप से लाभ उठा सकते हैं।

एतद्भिन्न विश्व साहित्य, भारतवर्ष में रचित आर्ष अथवा आप्तोपदिष्ट तथा अन्यत्र विश्व में साधु सन्त विद्वान् धार्मिकजन रचित, आर्ष परम्परानुसार पौरुषेय होने से परतः प्रमाण हैं। आर्य समाज, इनको यथायोग्य आदर की दृष्टि से देखता हुआ उनमें निर्दिष्ट तर्क और अनुभव द्वारा प्रतिष्ठित विज्ञान सिद्ध एवं वेदानुकुल अंश को ही प्रामाणिक (=स्वीकार योग्य व ग्राह्य) मानता है। विज्ञान सिद्ध और तर्क प्रतिष्ठित प्रत्येक सत्य विषय को यथार्थ

स्वीकारता है। चाहे वह किसी ने किसी भी समय में किसी भी देश या परिस्थिति में क्यों न कहा हो?

पहले संसार में सर्वत्र वेदमत (अर्थात् श्रुति प्रतिपादित धर्म, आगम पन्था, सतां मार्ग) ही था। इसी आधार पर मानव जाति के आदिम आर्य-ऋषि मुनियों ने 'आर्यदर्शन' का विकास किया था तथा जीवन के सकलभद्र (=अभ्युदय + निःश्रेयस) के लिए सर्वतः पूर्ण *'आर्य संस्कृति'* की कल्पना की थी।

विद्या और शिक्षा

आर्य समाज, अविद्या का नाश और विद्या की अभिवृद्धि करने में स्त्री-पुरुष व रंग का भेद किये बिना सदा तत्पर रहता है। सह-शिक्षा को मानव समाज के लिए अहितकर समझता है, विद्याविधान में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली अर्थात् विद्यार्थियों को परिवार व नगर के वातावरण से दूर रख रमणीक आश्रमों में विद्याभ्यास को प्रमुखता देता है।

विद्या का उद्देश्य केवल आजीविका सम्पादन न मान, आत्मविकास द्वारा उत्तम नागरिक (=दिव्यजन, वैश्वानर) बनाना मनता है। अर्थात् प्रत्येक विद्यार्थी को उत्तम समाज सेवक बनाना चाहता है।

मानव संस्कृति की मूलस्त्रोत और संसार की अब भाषओं की जननी वैदिक-भाषा (=संस्कृत भाषा) के पढ़ने की और प्रत्येक मनुष्य को और आर्यसमाज के सभासदों को विशेषतः अपनी मातृभाषा व राष्ट्रभाषा के अतिरिक्त हिन्दी और संस्कृत के पढ़ने की प्ररेणा करता है।

मनुष्य जीवन का उद्देश्य, यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हुए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धी करके व्यक्ति का सर्वविध पूर्ण विकास करना है। आर्य समाज प्रत्येक मनुष्य को शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से पूर्ण उन्नत करना चाहता है। शाश्वत सुख प्राप्ति के लिये दोनों प्रकार की शक्तियों का विकास परमावश्यक है। जीवन को उच्च एवं 'सत्य शिव सुन्दर' बनाने और जीवन में सदाचार, सरलता, सादगी एवं सौन्दर्य (व माधुर्य) लाने वाले कार्यो को सदा प्रोत्साहित करता है। विज्ञान एवं कला का उपासक है।

सब मनुष्यों का विद्वान् होना सम्भव नहीं। परन्तु विद्वानों के संग और आत्मा की पवित्रता एवं अविरुद्धता से धर्मात्मा चरित्रवान् प्रत्येक मनुष्य हो सकता है। विद्या का यही फल है कि मनुष्य का अवश्य धार्मिक होना। जिसने विद्या के प्रकाश से अच्छा जान के (=सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके) भी, वैसा न किया और (किसी विषय या पदार्थ को) बुरा जानकार भी बुरा करना न छोड़ा; वह चोर के समान है, जोकि चोरी को बुरा जानता हुआ भी नहीं छोड़ता। जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो, परन्तु दुष्ट व्यवहारों को छोड़कर, धार्मिक होके, खाने-पीने बोलने-सुनने उठने-बैठने लेने-देने आदि सब व्यवहार सत्य से युक्त यथायोग्य करता है वह कहीं कभी दुःख को प्राप्त नहीं करता। परन्तु जो सम्पूर्ण विद्या पढ़के भी उत्तम-व्यवहारों को छोड़कर दुष्टकर्मों को करता है, वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं कर सकता।

सर्वोदय

(नागरिता के मौलिक अधिकार)

शरीर रचना और समान प्रसव की दृष्टि से सब मनुष्य जन्म से समान हैं, न कोई बड़ा है, न छोटा। मनुष्यत्व की दृष्टि

से सब समान है। परंतु क्योंकि मनुष्ययोनि में आने वाले प्रत्येक जीव के 'गुण-कर्म-स्वभाव' पृथक् पृथक् होते हैं और 'देश-काल-स्थिति' भिन्न-भिन्न होती हैं, इसलिए उनके पद और योग्यता में भेद पड़ जाता है। जीव अपने कर्मों के कारण भिन्न-भिन्न परिस्थियों में जन्म पाता है। प्रत्येक का प्रारब्ध भिन्न होता है, अतः जन्म से ही भिन्न-भिन्न सामर्थ्य रुचि स्वभाव व भोगवाला होता है।

क्योंकि ईश्वर हमारा माता-पिता सखाबन्धु है, इसलिए हम सबको मिलकर अपनी अभिवृद्धि करनी चाहिए। अभ्युदय निःश्रेयस की सिद्धि में सबको समान अवसर मिलना चाहिए। इसलिए आर्यसमाज सामाजिक व्यवहारों में समानभ्रातृभाव, विचार एवं कार्य में समानस्वातंत्र्य और नागरिकता के सम्बन्ध में समानाधिकार के सिद्धान्त का समर्थन करता है। मनुष्य के प्राणीमात्र के साथ प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तन की शिक्षा देकर, ऋषि दयानन्द अपने से पूर्वकालीन युग पुरुषों के पथप्रर्शक के रूप में माने जावेंगे।

स्त्री-पुरुष को उनके नैसर्गिक भेद के कारण पैदा हुई विषयमता को छोड़कर अन्य सब आहार विहार आदि कार्यों में समानाधिकार है। सांघिक दृष्टि से इनके नागरिक व आर्थिक अधिकारों में कोई भेद नहीं। कोई किसी का दास या दासी नहीं हैं। स्त्रियां पढ़ सकती हैं, उपदेश दे सकती हैं; कृषि शिल्प व्यापार चला सकती है और समय आने पर युद्धों तक में भाग ले सकती हैं, शासन कार्य चला सकती हैं। आर्य समाज की दृष्टि में स्त्रियों का विशेष आदर करना चाहिए। वे गृहलक्ष्मियां और साम्राज्ञी हैं।

साम्राज्ञी का अर्थ है, समान अधिकार वाली।

व्यावहारिक पथ-प्रदर्शन

आर्यसमाज मनुष्य के सम्पूर्ण विकास के लिए उसका 'सर्वांगीण वैयक्तिक विकास' और जिस समाज में यह रहता हैं, उसकी 'चुतुर्मुखी उन्नति' का मार्ग बताता है। 'सर्वांगीण वैयक्तिक विकास' अर्थात् शारीरिक आत्मिक उन्नति के लिए आसन, प्राणायामादि योग पद्धति का प्रचार, मांस शराब मादक द्रव्य सिगरेट आदि पान का तीव्र निषेध करता है, ब्रह्मचर्य पालन में अधिक जोर देता है और (पंचमहायज्ञ) रूपी दैनिक प्रोग्राम तथा 'षोडश-संस्कार' रूपी जीवनव्यापी प्रोग्राम निर्धारित करता है।

पंचमहायज्ञ-दैनिकाभ्युदय-योजना

(1) ब्रह्मयज्ञ- योगाभ्यास, आत्मचिन्तन, ईश्वरोपासना (सन्धावन्दन) और वेदस्वाध्याय द्वारा अन्तःकरण शुद्धि। इससे विद्या, शिक्षा, धर्म, शिष्टाचार आदि शुभ गुणों की वृद्धि होती है।

(2) देवयज्ञ- आसन प्राणायामादि द्वारा अपनी सब इन्द्रियों को स्वस्थ सुदृढ़ बनाना। अग्निहोत्र द्वारा वायु-शुद्धि करके गृहों को स्वाथ्यकर रखना, अर्थात् शारीरिक उन्नति। इससे आरोग्य बुद्धि बल पराक्रम बढ़ के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, के अनुष्ठान की योग्यता और सामर्थ्य बढ़ाना होता है।

(3) पितृयज्ञ- जीवित माता-पिता वृद्ध कुटुम्बियों की अन्न-पान, वस्त्र-रक्षण द्वारा सेवा करना। इससे ज्ञान सदाचार और कृतज्ञताभाव की वृद्धि होती है।

(4) अतिथियज्ञ- धार्मिक, परोपकारी, सत्योपदेशक, साधु-संन्यासियों के अन्न, वस्त्र, निवास, रक्षण की समुचित व्यवस्था करना। इससे पाखंड विनाश, सत्यविज्ञान की प्राप्ति और धर्म प्रचार होता है।
(5) बलिवैश्वदेवयज्ञ- चीटीं, गाय, कुत्ता आदि जीव-जन्तुओं तथा निर्धन निःसहाय निराश्रित जनों का यथायोग्य पालन-पोषण करना। इससे प्राणिमात्र में समदृष्टि और परोपकार भावना की वृद्धि होती है।

व्यक्ति अपनी उन्नति करता हुआ समाज के साथ कैसे बरते, इसका उपाय भी पंचमहायज्ञविधि है। इसमें स्वार्थ और परार्थ का सुन्दर समन्वय दिखाया गया है। प्रथम दो यज्ञ व्यक्ति के शारीरिक-मानसिक (बौद्धिक, आत्मिक) उन्नति के साधक हैं, शेष तीन सामाजिक हित के लिए त्याग भाव सिखाते हैं। अपने भोग से पूर्व जिन्होंने जन्म दिया, पाला पोसा, उनकी सेवा जिन्होंने विद्यादान दिया, सदाचार सिखाया, उनकी सेवा और शेष प्राणिमात्र की सेवा।

प्रत्येक गृहस्थ स्त्री-पुरुष को ये पांच प्रकार के उपकारी श्रेष्ठतम कर्म प्रतिदिन अवश्य करने चाहिए। जीव-हिंसा नहीं करनी चाहिए। खाने के निमित्त हो या यज्ञरूपक पूजादि कर्म के निमित्त हो और या मतविषयक कार्यकलाप के निमित्त हो, किसी प्रकार के गोवध अथवा अन्य पशुवध का आर्य समाज प्रबल विरोधी है।

प्रत्येक राज्य के लिये भी इनका करना आवश्यक है।

प्रजा के लाभ के लिए विद्या प्रचार के निमित्त प्राचीन व आर्वाचीन अनेक विद्याओं के उत्तम शिक्षणालय व ग्रन्थागार स्थापित करना तथा ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा में शोध व

अन्वेषण कराना ब्रह्मयज्ञ है।

प्रजा के क्षेम के लिये, उत्तम अन्नोत्पादन करना कराना, कृषि व जलवृष्टि के उपाय करना, वृक्ष लतादि संवर्धन, स्वास्थ्य रक्ष्झण व रोगनिवारणार्थ उत्तम औषधालय तथा चिकित्सालय स्थापित करना देवयज्ञ है।

प्रजा के हित के लिये, वैज्ञानिकों (साइण्टिस्ट), अन्वेषकों (रिसर्च स्कालर्स), कुशल (ऐक्सपर्ट्स) व निपुण (स्पैश्यलिस्ट्स) विद्वानों को प्रोत्साहन व उनके योगक्षेम (=रोटी कपड़े) का समुचित प्रबन्ध करना पितृयज्ञ है। प्रजा के कल्याण के लिये, इन निष्काम स्वयं सेवकों (=सैल्फलैस वर्कर्स) तथा परोपकारी जनों (जो राष्ट्र में धर्म एवं सदाचार का प्रचार करते हैं) के लिए कार्यकरणार्थ सुविधायें देना तथा उनका पालन पोषण करना अतिथियज्ञ है।

प्रजा के सुख के लिये, निराश्रित, असहाय, दीन हीन जन की रक्षा और उपकारी जानवरों का संरक्षण, संवर्धन व संपोषण करना, ताकि पशुधन की वृद्धि होकर राष्ट्र में कोई भी भूखा न रहे-बलिवैश्वदैवयज्ञ है।

संस्कार-शतवर्षीय योजना

प्राचीन आर्य ऋषि-मुनियों ने जीवन की हर एक दिशा में सुनियोजित व्यवस्था की थी। समस्त जीवन भर मनुष्य क्रम से उन्नति करता जाये-जन्म से मरण पर्यन्त वह विकसता जाये-इसके लिये इन्होंने संस्कार पद्धति की योजना बनाई। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त सोलह संस्कार हैं, जो मनुष्य की सम्पूर्ण आयु में

फैले हुए हैं। इनका उद्देश्य गर्भ समय से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य शरीर, मन और आत्मा को बलवान बनाना तथा उन पर उत्तम संस्कार डालना है। संस्कारों द्वारा शरीर और मन सुसंस्कृत होने से 'धर्म, अर्थ काम, मोक्ष' का अनुष्ठान सरलता से हो सकता है। इसलिए संस्कारों का विधिवत् अनुष्ठान स्त्री-पुरुष भेद के बिना सबको करना उचित है।

(क) जन्म से पूर्व संस्कार किये जाते हैं।

पहला-गर्भादानः- जिससे पति-पत्नी प्रथमवार सन्तानोंत्पत्ति की कामना करते हुये यज्ञ में उपस्थित सभ्य पुरुषों के सामने यह संकल्प करते हैं कि 'धार्मिक वैश्वानर सन्तान' (दिव्यजन, वर्ल्डसिटिजन, विश्वनागरिक) उत्पन्न करेंगे। प्रथमवार ऋतुमती होने के न्यून से न्यून तीन वर्ष बाद कन्या और जब पच्चीस वर्ष का (अर्थात् पूर्ण स्वस्थ एवं आजीविका सम्पादन में समर्थ होने पर ही) पुरुष हो, तभी यह संस्कार करना चाहिए। अन्यथा गर्भ स्थापित न होगा, यदि हुआ तो क्षीण हो जावेगा, यदि क्षीण भी न हुआ, तो सन्तान निर्बल अल्पायु और संस्कार विहीन होगी।

दूसरा-पुंसवनः- गर्भ की स्थिति का सम्यग् ज्ञान हो जाने अर्थात् गर्भ ज्ञान के दूसरे, तीसरे व चौथे मास में गर्भरक्षा, पुरुषत्व अर्थात् वीर्यशक्ति लाभ तथा स्त्री की मानसिक शक्ति बढ़ाते हुए उसे उत्साहित प्रसन्न करने के लिए, यह संस्कार किया जाता है। स्त्री-पुरुष यज्ञ द्वारा यह प्रतिज्ञा करते हैं कि 'अब से ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे, जिससे गर्भ गिरने का भय हो और साथ ही गर्भ स्थित रहे,' वीर्य स्थिर रहे और आगामी सन्तान उत्तम हो।' सन्तान की उत्तमता के लिये गर्भकाल में स्त्री को प्रसन्न रखना

आवश्यक है।

तीसरा-सीमन्तोन्नयनः- यह गर्भ रहने के सावतें-आठवें मास में गर्भवती स्त्री के मन को सन्तुष्ट और आरोग्य रखने तथा गर्भस्थ शिशु की मानसिक शक्तियों की वृद्धि के लिये किया जाता है। ताकि स्थित हुआ गर्भ उत्कृष्ट हो और प्रतिदिन नियमित मर्यादा से बढ़ता जावे।

(ख) बाल्यकाल में छः संस्कार किये जाते हैं।

पहला- जातकर्मः- सन्तान का जन्म होने पर विधिवत् नाड़ी छेदन और शिशुस्नान कराके सन्तति के चिरायुष्य की शुभकामना के लिए इष्ट मित्रों से आशीर्वाद लिया जाता है। इसमें बालक की जिह्वा पर 'ओम्' (=प्रारम्भिक सहज उच्चारण) अक्षर लिखा तथा उसके कान में 'वेदोऽसि' सुनाकर (सोने की शलाका से) मधुप्राशन कराया जाता है, ताकि बालक बलिष्ठ और ज्ञानवान् बने। उत्पत्ति के प्रथम दिन से ही बालक को 'मधुरवक्ता' व 'सत्यज्ञान श्रोता' बनाना इस संस्कार का उद्देश्य है।

दूसरा-नामकरणः- इसमें जन्म से 11वें, 101 वें अथवा अगले वर्ष जिस दिन जन्म हुआ हो, बालक व बालिका का विधिवत् सुन्दर मधुर व सार्थक नाम रखा जाता है।

तीसरा -निष्क्रमणः - जन्म से चौथे मास में बालक की जन्म तिथि पर या यथानुकुल समय पर संस्कार करके बालक को घर से बाहर जहां शुद्ध वायु और सुन्दर दृश्य हों, वहां भ्रमण कराते हैं, जिससे कोमलता कम होकर वह हृष्ट-पुष्ट होने लगे और उसका शरीर शीतोष्ण जलवायु का अभ्यासी बने।

चौथा-अन्नप्राशनः- छठे, आठवें या दसवें महीने में अर्थात्

बच्चे के दांत निकलने पर जब उसकी शक्ति माता के दूध के अतिरिक्त अन्न पचाने योग्य हो जावे, उस समय प्रथम बार अन्न खिलाने के निमित्त यह संस्कार किया जाता है।

पांचवां- मुडनः- एक वर्ष के पश्चात् या तीसरे वर्ष होता है। इसमें प्रथम बार बच्चे के केश कटवाये जाते हैं। उसके सिर पर शिखा रखी जाती है।

दांत निकलते समय अन्य रोगों के साथ-साथ चर्मज रोगों की भी सम्भावना होती है। इसलिए यह संस्कार किया जाता है, जिससे सिर हल्का हो जाये और बालक चर्म सम्बन्धी तथा गर्मी से होने वाले अन्य रोगों से बचा रहे तथा उसके शरीरिक विकास में अन्तर न आवे।

छठा-कर्णबेधः- तीसरे या पांचवें वर्ष में अन्त्रवृद्धि आदि कई रोगों के उपशमनार्थ बालक के कान की लौ बेधे जाते हैं और उनमें सोने की बाली पहनाते हैं।

(ग) विद्यारम्भ करने के समय दो संस्कार किये जाते हैं।

पहला-उपनयनः- जन्म से पांचवें वर्ष से लेकर बारह वर्ष तक की अवस्था में इससे तीन तार का यज्ञोपवीत लड़के या लड़की को दिया जाता है, जिसका आशय व्रत धारण करना है। इस संस्कार से शिक्षा और दीक्षा का प्रारम्भ होता है।

दूसरा-वेदारम्भः- उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचर्य व्रतपूर्वक विद्याध्ययन प्रारम्भ करने के लिये बालक-बालिका को गुरुकुलादि उत्तम शिक्षण संस्थाओं में प्रथमवार भेजते समय यह किया जाता है।

(घ) विद्या समाप्त करने पर दो संस्कार किये जाते हैं।

पहला समावर्तन :- विद्यालय व गुरुकुल से ब्रह्मचर्यव्रत नियमपूर्वक

विद्याध्ययन समाप्त करके जब ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी माता-पिता के घर वापिस आते हैं, तब उपलब्ध ज्ञान द्वारा उत्तम जीवन बिताने, समाज में उसका क्रियात्मक व्यवहार करने और गृहस्थाश्रम को ग्रहण करने की स्वीकृत्यर्थ (दीक्षान्त समरोह) यह संस्कार किया जाता है।

दूसरा-विवाहः- विद्या समाप्ति के पश्चात् स्वतंत्र सामाजिक जीवन के संचालनार्थ आजीवका का उचित साधन सम्पादन करके, गृहस्थी बनकर संतति श्रृखला को स्थिर रखने अर्थात् उत्तम और बलवान संतान को उत्पन्न करने तथा गृहस्थाश्रम के अन्य कर्त्तव्यों का पालन करने के लिये समान शीलव्यसन वाले (समान गुण कर्म स्वभाव स्थिति और आयु वाले) स्त्री-पुरुषों को एक सूत्र में बांधने के लिये यह संस्कार किया जाता है। विवाह सूत्र बन्ध जाने के बाद स्त्री-पुरुष 'वानप्रस्थ' होने से पूर्व तक, ग्रहाश्रम-संस्कार करते रहते हैं अर्थात्- जीवन यात्रा में सुख प्राप्ति के लिये धर्मयुक्त साधनों द्वारा अर्थ संचय करना (गृहनिर्माण), अपने सामर्थ्य साधनों के अनुसार परोपकार करना, यथाविधि ईश्वरोपासना और गृहकृत्य करना, उत्तम पदार्थों का भोग करना तथा धर्मानुसार सन्तान उत्पन्न करना अर्थात्, धर्म, अर्थ, काम (-त्रिवर्ग) का सफल संपादन इसके द्वारा करते हैं।★

(ड.) पिछली अवस्था में दो संस्कार किये जाते हैं।

★कई इसे पृथक् संस्कार गिनते हैं। परंतु गृहाश्रम संस्कार वास्तव में विवाह संस्कार की पूर्ति है। इसमें गृहस्थ के कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है। यह पृथक् संस्कार नहीं।

पहला-वानप्रस्थ :- वैवाहिक जीवन द्वारा उत्तम और वीर्यवान सन्तान उत्पन्न करके जब सन्तान (=ज्येष्ठपुत्र) के भी प्रथम सन्तान उत्पन्न हो जावे या युवावस्था के शिथिल होने पर गृहस्थ को छोड़कर तपः स्वाध्याय में प्रवृत्त होते समय संन्यासाश्रम की तैयारी के लिये संस्कार किया जाता है।

दूसरा-संन्यास :- पुत्रैषणा वित्तैषणा एवं लोकैषणा का त्याग करके ब्रह्मोपासना और परोपकार के निमित्त अपने को अर्पण कर देने की दीक्षा लेते समय यह संस्कार किया जाता है। अर्थात् जिस समय पूर्ण वैराग्य हो जावे और इतनी शक्ति आ जावे कि निःस्वार्थ निष्काम-कर्म कर सके, उस समय जिस भी आश्रम में हो, उससे सीधे संन्यास आश्रम ग्रहण करें।

अन्त्येष्टिः- मृत्यु के पश्चात् प्राणरहित मनुष्य के शरीर (=शव) को इस संस्कार द्वारा अग्नि में विधिपूर्वक भस्म किया जाता है। इस अन्त्येष्टि संस्कार के पश्चात् मृतक-मनुष्य का हमारे से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिए इसके लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता। आर्यसमाज मृतक पुरुषों के लिए श्राद्ध-तर्पण नहीं मानता।

आर्य समाज शास्त्र की भूमिका

आर्य समाज 'चर्तुमुखी सामाजिक अभ्युदय' (संघ-सौष्ठव) के लिये वेदानुकूल 'वर्णाश्रम की व्यवस्था' को आवश्यक मानता है।' वर्णाश्रम व्यवस्था ही एक ऐसी व्यवस्था है, जो समाज में सब व्यक्तियों को 'परहित' का ध्यान रखते हुये 'स्वहित' का सर्वोत्तम समान अवसर दे सकती है। मानव समाज में प्रचलित देशजाति सम्प्रदाय और रंग आदि का भेद कृत्रिम और सर्वोदय में बाधक है।

आश्रम-व्यवस्था

मानव जीवन को पूर्णतः सफल करने के लिये मनुष्य की आयु को चार भागों में विभक्त किया गया हैं, जिनमें परिश्रम पूर्वक उत्तम गुणों को ग्रहण और श्रेष्ठ काम किये जाते हैं।

शारीरिक बल, बौद्धिक उन्नति और आत्मिक विकास के लिये ब्रह्मचर्याश्रम है।

शरीर मन आत्मा की शक्तियों के व्यवहारिक प्रयोग अर्थात् उत्तम सन्तान पैदा करने, आजीविका सम्पादन करने और सामाजिक कर्त्तव्यों का धर्मानुसार पालन करने के लिये गृहथाश्रम।

तपः स्वाध्याय द्वार क्षीण शक्तियों के संग्रह और मानसिक आत्मिक शक्तियों को समुन्नत करने के लिये वानप्रस्थाश्रम है।

परहित और ब्रह्मोपासना के लिये संन्यासाश्रम है।

गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अभिप्राय है, स्त्री-पुरुषों का मिलकर सन्तानोत्पादन तथा आजीविका सम्पादन करने अर्थात् अर्थकाम का सम्पादन। दो आत्माओं के मिलन के निमित्त विवाह एक पवित्र धार्मिक सम्बन्ध है, जो कि मानवजाति के सर्वविध सामाजिक, आर्थिक, नागरिक जीवन का मुख्य आधार और आदर्श है। यह स्वेच्छाहार-विहार के निमित्त किया गया कान्ट्रैक्ट (नियत-कालसम्बन्ध) नहीं। विवाह माता-पिता के परामर्श, (चुनाव, ढूंढ़, सलाह) समाज (सोसायटी, विश्वेदेवाः) की अनुमति तथा वधू-वर की तदर्थ सहमति (स्वीकृति, स्वयं-वरण) के आधार पर प्रसन्नता पूर्वक किया जाना चाहिए।

पति-पत्नी में से किसी एक के मर जाने पर अथवा दोनों के जीवित होने पर किसी कारण से जैसे नपुसंकत्वादि स्थिर रोगों

के कारण या आपत्काल में दोनों में से किसी के सम्बन्धयोग्य न रहने की दशा में सन्तानोत्पादन के निमित्त समान गुण कर्म स्वभावस्थिति आयु वाले विवाहित स्त्री-पुरुषों में राज्य व्यवस्थानुसार नियमपूर्वक पुनः सम्बन्ध अर्थात् धर्मानुसार नियोग हो सकता है। वर्तमान परिस्थित में वेदोक्त राज्य पद्धति न होने के कारण आर्य समाज विधवाविवाह को भी स्वीकार करता है।

जो मनुष्य अपने कुल की उत्तमता, सन्तान को उत्तम, दीर्घायु, सुशील, बुद्धि बल पराक्रम युक्त, विद्वान् और श्रीमान् बनाना चाहें, वे सोलह वर्ष से पूर्व कन्या और पच्चीस वर्ष से पूर्व कुमार का विवाह कभी न करें। यही सब सुधारों का सुधार और सौभाग्यों का सौभाग्य और सब उन्नतियों की उन्नति करने वाला कर्म है। इस अवस्था में ब्रह्मचर्य रखा के अपनी सन्तानों को विद्या और सुशिक्षा ग्रहण करावें कि जिससे वे उत्तम सदाचारी सभ्य धार्मिक बनें।

वर्णव्यवस्था

उक्त समाज को उत्तमरीत्या संगठित अखंड बनाये रखने, सबके लिये उन्नति का समान अवसर और नागरिकता का समान अधिकार दिये जाने के भाव को कार्यरूप देने और सबके लिये जीविका-उपलब्धि का सदुपाय कराने के लिए आर्य ऋषियों द्वारा निर्मित श्रमविभाग रूप सुन्दर विधान का नाम 'वर्णव्यवस्था' है। प्रत्येक व्यक्ति से उसके सामर्थ्य और गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार अनिवार्य रूप में कार्य लेने और काम के अनुसार जीवनोचित पारिश्रमिक देने की व्यवस्था के लिये ही 'वर्णविभाग' है। यह पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति है।

इसलिए विद्यारम्भ करने से लेकर विद्यासमाप्ति तक बालक की योग्यता को देखकर जब वह स्वतंत्र आजीविका व गृहस्थ जीवन प्रारम्भ करता है, उस समय प्रत्येक का वर्ण नियत किया जाता है और-

जब तक मनुष्य गृहस्थाश्रम में रहता हुआ, आजीविका सम्पादन करता है, तभी तक यह वर्ण-विभाग रहता है। वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम में गये हुओं को कोई वर्ण नहीं होता।

(1) जो उत्तम विद्या प्राप्त करके, चरित्रवान होता हुआ राष्ट्र सन्तति को ज्ञान प्रदान करके मानव समाज की सेवा करे उसे ब्राह्मण कहते हैं। यह प्रजा में मानवधर्म, नीति, सदाचार, संस्कृति सभ्यता का प्रचार करता है। वह राष्ट्र-धर्म, राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्र-संस्कृति को विकसाता है।

(2) जो उत्तम विद्या प्राप्त करके, चरित्रवान होता हुआ, संकट काल में मनुष्यों की रक्षा और संकट सामग्री का विनाश करे, उसे क्षत्रिय कहते हैं। यह राष्ट्र-शक्ति को विकसाता है।

(3) जो उत्तम विद्या प्राप्त करके, चरित्रवान होता हुआ, कृषि कर्म व्यापार आदि से धन धान्य आदि का संग्रह करके समाज को समृद्ध करे, उसे वैश्य कहते हैं। यह राष्ट्रधन को विकसाता है।

(4) जो उत्तम विद्या को मन्दमति होने के कारण प्राप्त न कर सके, परन्तु चरित्रवान हो, वह तीनों वर्गों की शरीर द्वारा सेवा करता है। इसे शूद्र कहते हैं। यह राष्ट्रश्रम को विकसाता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाति नहीं, वर्ण हैं। वर्ण और जाति एक नहीं होते। प्राणी वर्ग में मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि-कीटादि भिन्न-भिन्न जातियां हैं। लिंग भेद में इनमें स्त्री-पुरुष

दो भेद हैं। मनुष्य वर्ग में 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र' चार वर्ण हैं। जाति का निर्णायक जन्म और वर्ण का निश्चायक गुण-कर्म-स्वभाव' (तथा इनके आधार पर बना जीविका साधन) है।

आर्य नागरिकों अर्थात् संघ निर्माण में सहायक जनों की योग्यता और वृत्ति के अनुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण नियत होते हैं, इसके अतिरिक्त कोई पंचम वर्ण नहीं है। इन चारों वर्णों में सामाजिक एवं नागरिक अधिकारों की दृष्टि से न कोई बड़ा है, न कोई छोटा है। गुण कर्म स्वभाव के अनुसार ही समाज निर्माण के उद्देश्य से जिसकी जैसी योग्यता तथा वृत्ति है, उससे वैसा कार्य लेने के लिए मानव समाज 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र' नाम से चार प्रकार के विभागों में संगठित होना चाहिए। 'आहारविहार, निवास, विद्या, व्यवसाय, परोपकार अर्थात् लोक सेवा तथा आमोद प्रमोद' का सबको समान अधिकार तथा अवसर मिलना चाहिए।

शरीर में अंगों के समान, सब वर्ण समाज के उपयोगी अंग हैं। अर्थात् जिस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न अंग बिना किसी ऊंच-नीच भाव के अपने कर्मों (फंकशन्स) को करते हैं, वैसे ही समाज रूपी शरीर के अन्दर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में अपने-अपने कार्य करते हुए परस्पर सहयोग प्रेम और विश्वास का होना समाज की उन्नति, शांति व दृढ़ता के लिए परम आवश्यक है।

प्रत्येक देश के वासियों को उनके अपने देश की समृद्धि और मानवता के विकास में सफलीभूत होने के लिए, तद्देशीय नागरिकों को, उनके गुण कर्म स्वभावानुसार (वृत्ति सम्पादनार्थ) इन

चारों वर्गों में बांटने की आर्यसमाज विश्व के सामने यह योजना रखता है। इसको स्वीकार किये बिना साम्यवादिक रूप में विश्व में शांति की स्थापना नहीं हो सकती।

(1) समाज की उन्नति के लिए प्रजामात्र की, बिना किसी भेदभाव के विद्या व शिक्षा द्वारा सेवा करके दान द्वारा जीविका उपलब्ध (अर्थात् वृत्ति सम्पादन) करने वाला वर्ग ब्राह्मण।

(2) समाज में पीड़ित व शोषित वर्ग की, शोषकों अत्याचारियों व आततायियों से तथा देश की आन्तर-बाह्य शत्रुओं से रक्षा करते हुये राज्य शासन सम्बन्धी कार्यों से जीविका उपलब्ध (अर्थात् वृत्तिसम्पादन) करने वाला वर्ग क्षत्रिय।

(3) पशु रक्षा व्यापार और कृषि आदि के व्यवसाय द्वारा सबके 'अन्न वस्त्र निवास' का व्यवस्थापक देश का व्यवसायी वर्ग वैश्य।

(4) समाज की सामाजिक उन्नति के लिये इन तीनों वर्गों की शारीरिक परिश्रम द्वारा सहायता करके जीविका निर्वाह (अर्थात् वृत्ति सम्पादन) करने वाला वर्ग शूद्र कहाता है।

इसलिये वर्ण बदल भी सकता है अर्थात् एक व्यक्ति जो आज ब्राह्मण वृत्ति में है, कल क्षत्रिय वृत्ति या वैश्य वृत्ति को स्वीकार करके क्षत्रिय या वैश्य कहा सकता है। इसी प्रकार शुद्र भी इसी जीवन में 'ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य' बन सकता है।

कोई भी धर्मानुकुल सद्वृत्ति नीच नहीं। शूद्र का काम नीच नहीं; उससे किसी को घृणा नहीं करनी चाहिए। किसी को भी पंचम, चाण्डाल, निषाद, म्लेच्छ, भंगी, चमार, माला मादिग, पलिय पुरिय कह अस्पृश्य मानना और उससे घृणा करना,

वेदशास्त्र विरुद्ध, हानिकारक तथा मानव धर्म प्रतिकूल है और यह न केवल सामाजिक नियमों का उल्लंघन है, अपितु कानून के अनुसार दण्डनीय है।

वर्गों का यह विभाग केवल लोक सम्बन्धी कर्मों से होता है, परलोक सम्बन्धी कर्म अर्थात् वेदाध्ययन, यज्ञ, दानधर्म और जप-तप आदि अनुष्ठान सब के लिये एक जैसे हैं। इनमें किसी प्रकार का भेद नहीं। समतुलित सर्वोदय के लिये समाज-शास्त्र के आदि प्रणेता या जन्मदाता मनु महाराज द्वारा प्रचारित वर्णव्यवस्था के शुद्ध ज्ञान के लिए उपरोक्त बात को अवश्यमेव स्पष्टतया समझ लेना चाहिये।

आर्य-दस्यु

भूतल पर बसने वाले किसी भी मानव समुदाय में, वहां की देश काल परिस्थिति के अनुसार बने धर्मन्याययुक्त नियमों में चलने वाले शांतिप्रिय श्रेष्ठस्वभाव धर्मात्मा परोपकारी सत्यविद्यादि गुणयुक्त उत्तम नागरिकों को आर्य★ कहते हैं और सामाजिक व्यवस्था का उपलक्ष्य कर प्रजावर्ग का किसी भी प्रकार से शोषण करने वाले उपद्रवी दल अर्थात् अनार्य अनाड़ी, आर्यों के गुण कर्म

★*जो उत्तमविद्या प्राप्त कर चरित्रवान् होकर अथवा जो मन्द मति होने के कारण उत्तमविद्या से विहीन भी चरित्रवान् होकर समाज की सेवा करे, वह आर्य। और*

॥जो न उत्तमविद्या प्राप्त करे, न चरित्रवान् हो और समाज में त्रास-गड़बड़ी पैदा करे तथा जो उत्तमविद्या प्राप्त करके भी चरित्रभ्रष्ट अधार्मिक परहितघाती बन समाज में त्रास-गड़बड़ी पैदा करे, वह दस्यु कहलाता है।

स्वभाव और निवास से पृथक् डाकू चोर सिंहक दुष्ट मनुष्य दस्यु" कहलाते हैं। इन दस्युओं का मन 'अधिक-जनहित' के विचार से न्यायायुमोदित है।

आर्य समाज, मानव समाज के किसी भी वर्ग समुदाय या अंग का समुचित वैध उपायों द्वारा रक्षण करना कर्त्तव्य समझता है। जिसमें प्रचलित दुष्ट दुराचारी शासन द्वारा वहां की प्रजा सन्त्रस्त व पददलित की जा रही हो; ऐसे अन्यायपूर्ण शासन के समूलोन्मूलन के निमित्त धर्मानुसार 'यथायोग्य वर्ताव' की नीति का अर्थात दुष्टदमानार्थ 'साम दाम दण्ड भेद' के प्रयोग का समर्थन करता है; ऐसा करने में चाहे हिंसा का आश्रय भी क्यों न करना पड़े।

आत्मरक्षणार्थ व धर्म-स्थापनार्थ (मत प्रचार के निमित्त नहीं) अवसर पड़ने पर युद्ध को न्यायानुमोदित मानता है। परन्तु, युद्ध का प्रयोजन अपनी शक्ति का प्रदर्शन या प्रभुत्व स्थापन या साम्राज्य विस्तार नहीं। निरपराध प्रजा की रक्षा के लिए अन्याय अत्याचार अधर्माचरण को रोकने के लिये सैनिकशक्ति का प्रयोग भी करना पड़े, तो समुद्यत रहना है।

सर्वोदयी-राजतन्त्र

राजा (उच्च शासक, सभापति, सर्वाधिकारी, राष्ट्रपति, अध्यक्ष) उसी को कहते हैं, जो शुभ गुण कर्म स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपात रहित हो, न्यायकारी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, अभयदाता, शत्रुनाशक, शांतिव्यवस्था का संस्थापक, सर्वोपकारी न्यायधर्म का सेवक, प्रजापीड़नरहित, प्रजाओं में पितृवत वर्ते और पुत्रवन् उनको मानकर उनकी उन्नति और देश पर शासन करता है।

प्रजा उसको कहते हैं जो पवित्र गुण कर्म स्वभाव को धारण करके पक्षपात रहित न्यायधर्म के सेवन से राज्य की उन्नति चाहते हुए राजविद्रोहरहित राजा को पिता मान उसके साथ पुत्रवत् वर्ते।

राजा और प्रजा के पुरुष मिलके सुखप्राप्ति और विज्ञान-वृद्धिकारक राजा प्रजा के सम्बन्ध रूप व्यवहार में अपने-अपने राष्ट्रों में तीन सभा अर्थात् विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा और राजार्यसभा नियत करके समग्र राष्ट्रवासियों को सब ओर से विद्या, स्वतंत्र्य, धर्म, सुशिक्षा और धनादि के अलंकृत करें। यही राष्ट्रसेवा है।

राजा और राजसभा अलब्ध प्राप्ति की इच्छा, प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा करें, रक्षित को बढ़ावें और बढ़े हुए धन को वेदविद्या धर्म का प्रचार, विद्यार्थियों को विद्यादान, असमर्थ अनार्थों के पालन-पोषण और समस्त प्रजा की सुखसमृद्धि के निमित्त लगावें। यही राष्ट्र सेवा है।

आर्य समाज की सम्मति में एक को, राज्य का स्वतंत्र अधिकार नहीं देना चाहिए। राजा के अधीन सभा और सभा के नियंत्रण में राजा, राजा और राजसभा प्रजा के अधीन और प्रजा राजसभा व राजा के अधीन रहे।

राज्यसभा- का मुख्य काम राज्य व्यवस्था का स्थापना करना, दुष्टों को दण्ड देकर न्यायव्यवस्था करना, अनाथ असहायों का पालन पोषण करना, देश की अन्तर्बाह्य शत्रुओं से रक्षा करना आदि हैं। गृहविभाग तथा विदेशविभाग इसके अन्तर्गत हो सकते हैं।

विधानसभा- का मुख्य काम विद्या प्रचार करना, शोध के कार्यों का निरीक्षण करना, विज्ञान केंद्रों का स्थापित करना आदि-आदि

है। शिक्षा विभाग इसके अन्तर्गत है।

धर्मसभा- का मुख्य काम यह है कि वह जनता में धर्म-मर्यादा, सदाचार नीति नियमों का प्रचार और लोगों के जीवन में धर्म का संचार करें। जनसेवा विभाग जो लोक कल्याणकारी योजनाएं बनाता है, इसके अन्तर्गत है।

ये तीनों स्वतंत्र सभायें नहीं, परंतु राज्य (या स्टेट) के अधीन कार्य करती हैं।

प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था

मताधिकार

भले बुरे, हानि लाभ, सुख दुःख, और सच झूठ की पहचान रखने वाले विवेकशील न्यायप्रिय प्रत्येक स्वदेश के नागरिक वयस्क स्त्री-पुरुष को वोट देने का अधिकार मानता है। परन्तु करोड़ों मूर्खों के मत से एक विद्वान् के मत को अधिक मान्यता होनी चाहिए।

सर्वलोक कल्याणार्थ सामान्य प्रजा में से (बिना किसी जाति-कुल-मत-भेद के) विवेकयुक्त प्रजा द्वारा चुने श्रेष्ठ योग्य त्यागी समर्थ प्रतिनिधियों के स्वदेशीय-शासन की प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था को सर्वोत्तम मानता है।

किसी भी राष्ट्र (समाज+देश) में साम्प्रदायिक आधार पर प्रतिनिधित्व व विशेष अधिकार दान अथवा देश विभाजन को अहितकर, अराजनैतिक व अराष्ट्रिय समझता हुआ उसका विरोधी है। आर्यों (= निःस्वार्थ, चरित्रवान, धार्मिक, आप्त, उत्तम, नागरिकों) के हाथ में शासन होना चाहिये, चाहे उनका मत व

सम्प्रदाय कुछ भी क्यों न हो? मत (रिलिजन) का जातीयता (राष्ट्रियता व नैशनैलिटी) से कोई सम्बन्ध नहीं मानता। हिन्दुत्व (भारतीयता) जातीयता है; मत (रिलिजन) नहीं। भारत देशोत्पन्न एक मुस्लमान का मत इस्लाम है, पर उसकी जातीयता हिन्दू★(भारतीय) है। अफगानिस्तान में अफगान जातीयता है; यद्यपि उनमें भिन्न-भिन्न कई मत हो सकते हैं। तुर्किस्तान का निवासी एक तुर्क, शैव या वैष्णव भी हो सकता है और मुसलमान या ईसाई भी। यदि एक व्यक्ति जिसका मत इस्लाम है, सदा के लिये भारत देश में बस जावे तथा इस देश को अपना देश बना ले, तो जातीय तौर पर वह भारतीय-मुसलमान (हिन्दी-मुसलमान) कहलावेगा जैसे कुछ व्यक्ति भारतीय-ईसाई व भारतीय-वैष्णव कहलाते हैं।

व्यक्तियों के समुदाय का नाम समाज है। जब मनुष्यों के एक बड़े समुदाय के व्यक्तियों में बहुत देर तक एक विशेष भूखंड पर बसे रहने के कारण एकानुभूति और आत्मीयता का विकास हो जाता है, जिससे उसमें एक सा आचार-विचार, एक सा आहार-विहार, एक सा अनुष्ठान, एक सी वेश-भूषा, एक भाषा एवं एक सी साहित्यिक धारणायें और एक शासन व्यवस्था विकसित हो जाती है; तब वह समुदाय इतिहास में एक विशेष जाति का वाचक हो जाता है। इसकी सभ्यता, संस्कृति और भाषा एक हो जाती है। परन्तु,

★*भारतवर्ष में बसने वाले व्यक्ति का जातीय नाम 'हिन्दू' न तो प्राचीन साहित्य में है और न ऋषि दयानन्द ने ही माना, भ्रमात्मक भी है, अतः हमें अपना वास्तविक नाम 'आर्य' या 'भारतीय' ही अपनाना चाहिए।*

केवल मत या केवल भाषा आर्य समाज की सम्मति में जातीयता का आधार नहीं हो सकते।

आर्य समाज की दृष्टि में प्रत्येक राज्य मुख्यतः धर्मयुक्त न्यायशील और नागरिकता के अधिकार की दृष्टि से न्याय प्रिय लोकराज्य (सैक्युलर स्टेट) होना चाहिए। राज्य का कोई मत (राजमत) नहीं होता, परन्तु राजधर्म अवश्य होता है।★

राज्य में सुख-शांति व्यवस्था की स्थापना और जनता में धर्म व सदाचार के स्तर को उन्नत करने का पूर्ण प्रबन्ध न्यायप्रिय लोकराज्य को अपनी ओर से करना चाहिए; ताकि समस्त प्रजा नीति मर्यादा में रहती हुई परस्पर प्रेम और विश्वास से निर्भय रह सके और अपने अधिकारों का उपभोग कर सके। जो संस्थायें प्रजा में मानव धर्म, उत्तम सदाचार व श्रेष्ठ नीति का प्रसार करती हों, उन्हें प्रचार की खुली छूट तथा पूर्ण सहायता देना उचित और आवश्यक है। साथ ही शिक्षण संस्थाओं द्वारा प्रारम्भ से बालकों के मनों पर दया, सेवा, स्नेह आदि उत्तम संस्कार बैठाने के लिये, राज्य द्वारा धर्म और सदाचार की शिक्षा-दीक्षा को भी आर्य समाज अनिवार्य समझता है।

स्वदेशी व्यवहार

भूमण्डल के प्रत्येक देश के वासियों को अपने-अपने देश की संस्कृति व परम्पराओं का मान तथा स्वदेश में निर्मित व

★राजशासन व व्यवस्था वेदोक्त होनी चाहिए। क्योंकि वेद सार्वभौम सत्यधर्म प्रतिपादक हैं, मतविशेष के प्रतिपादक नहीं।

★इस सर्वतन्त्र सिद्धान्तानुसार आर्य समाज स्वदेशीय वस्त्र, स्वजातीय-सभ्यता व संस्कृति और स्वदेशीय व्यापार की अभिवृद्धि करने में सर्वदा यत्नशील रहता है। विदेशी सभ्यता की बुराइयों से भारतीयों को सदा सचेत करता है।

उत्पन्न वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए।★ आर्य समाज किसी भी देश की संस्कृति व सभ्यता की अच्छाइयों को स्वीकार करने की प्रेरणा करता है। अन्धानुकरण का विरोधी है। जो आचरण और सभ्यता वेदानुकूल नहीं, उनका विरोध करता है, चाहे वे भारत के हों या किसी अन्य देश के।

समान प्रवेश

आर्य समाज सबके इकट्ठे होने के स्थलों अर्थात् यातायात के साधनभूत यान रथ सवारी आदि, जलाशय व भोजनशाला, पार्क, पुस्तकालय व पूजा-स्थलों पर सबके समान प्रवेश को स्वीकार करता है। परन्तु जिनको इन पूजा स्थलों की पवित्रता और उनकी पूजापद्धति में श्रद्धा, विश्वास व मान्यता नहीं, उनको इनके उपयोग व इनके प्रवेश की अनुमति देना हानिकारक समझता है। किन्तु द्रष्टा रूप से वहां की मर्यादानुसार जाने पर प्रतिबन्ध नहीं मानता।

राजभाषा

प्रत्येक देश या राष्ट्र के लिये उसकी मातृभाषा को राजभाषा किये जाने के सार्वभौम सर्वतन्त्र सिद्धान्तानुसार, भारत देश के लिये वर्तमान स्थिति में देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी (आर्य भाषा) को राजभाषा स्वीकारता है। और प्रत्येक आर्य सभासद् व देशवासी को इसके पढ़ने को प्रेरता है। वस्तुतः आर्य समाज संस्कृत भाषा को राजभाषा बनाने का पक्षपाती है।

प्रत्येक देश के विद्यापीठों व अन्य सभी प्रकार की शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा का माध्यम उस देश की राष्ट्रभाषा ही होनी चाहिए। इसी में मानव जाति का कल्याण मानता है।

राजभाषा या राष्ट्रभाषा के निर्णय में 'मत-सम्प्रदाय' का सम्बन्ध व विचार अराजनैतिक और सर्वदा अहितकर है। चीन या इंग्लैण्ड में बसने वाले हिन्दू (=भारतीयों) की राजभाषा चीनी या इंग्लिश और इसी प्रकार भारत बसने वाले जैन, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, पारसी व सिक्ख सभी की राजभाषा हिन्दी होनी चाहिए।

संस्कृत को विश्व (सार्वभौम) भाषाी स्वीकारता है।

विदेश नीति

आर्य समाज प्रत्येक देश की पूर्ण स्वतंत्रता अर्थात् सब प्रकार के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, व्यापारिक व आर्थिक मामलों में उस देश की प्रजा की स्वीकृति और उनके शासनाधिकार को आवश्यक स्वीकारता है।

एक देश का दूसरे देश पर, एक जाति का दूसरी जाति पर, एक समूह (वर्ग व दल का) दूसरे समूह (वर्ग व दल) पर, उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी भी प्रकार के प्रभुत्व को अनुचित और मानवाधिकारों का विनाशक समझता हुआ, उसका प्रबल विरोधी है। उन सब प्रवृत्तियों का, जिनके नाम पर 'कोई जन समुदाय' प्रजा के हिताहित का ध्यान किये बिना, केवल अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये धनबल (=पूंजीवाद), राजबल (=साम्राज्यवाद), बुद्धिबल (=पुरोहितशाही), शरीरबल (=आतंकवाद) की सहायता से अन्य जनों की आर्थिक, सामाजिक राजनैतिक, बौद्धिक, शारीरिक निर्बलताओं का अनुचित लाभ उठाता है और उसे प्राप्त धन (=कैपिटल) और शक्ति (=पावर) का अपने प्रभुत्व विस्तार के

लिये स्वयं भोग करता है, उनका आर्य समाज विरोधी है।

संसार भर का उपकार करना अर्थात् मानवमात्र की शारीरिक, मानसिक, आत्मिक सामाजिक व राष्ट्रीय उन्नति करना आर्यों का परम उद्देश्य है। इसी दृष्टि से दो देशों को परस्पर वर्तना चाहिए।

विश्वशान्ति के लिये

हर एक राष्ट्र के लिये जिसकी एक संस्कृति सभ्यता हो अर्थात् जिसमें एक भाषा, एक जैसे आहार-विहार, एक जैसी वेशभूषा, एक जैसे अनुष्ठान, और एक प्रकार के आचार-विचार वाला जनसमुदाय रहता हो, चाहे उसमें कितने भी मतमतान्तर क्यों न हों और जिसमें ऐसे समुदाय को रहते इतना समय बीत गया हो कि उस देश के साथ मातृत्व की स्नेहमयी भावना जागृत हो गई हो, उसको राजनैतिक (=भूः) व सांस्कृतिक (=भूवः) आत्मनिर्णय अर्थात् स्वभाग्य निणर्य (=स्वः) का बिना किसी प्रतिबन्ध के पूरा-पूरा अधिकार दिलाना चाहता है।

अन्तर्जातीयवाद से विश्व में सुख, शांति व्यवस्था का होना सम्भव मानता है। इसलिये भूतल पर आर्यों के चक्रवर्ती साम्राज्य, की स्थापना करना चाहता है; ताकि समस्त देशों के योग्य, त्यागी, समर्थ, आप्त, बुद्धिमान् सज्जनों (आर्यों =उत्तम-नागरिकों) द्वारा निर्मित पद्धति के आधार पर समस्त भूमण्डल पर एक जैसी शासन व्यवस्था हो और जिससे समस्त बिखरे राष्ट्र एकसूत्र में ग्रथित रहें।

मनुष्य के लिये कर्म करते हुए (अर्थात समाज में किसी

न किसी प्रकार का रचनात्मक कार्य करते हुए) सौ वर्ष तक 'अदीन (=स्वतन्त्र) जीवन' बिताने का उपदेश करता है। सर्वतोमुखी कल्याणार्थ सबके लिये परिश्रम करना अनिवार्य है, बिना परिश्रम के उपभोग करने व अकेले खाने को पाप (=सामाजिक अपराध) समझता है। योग्यतानुसार समाज में सबका स्थान नियत होना चाहिए। और आवश्यकतानुसार सबके, 'भोजनाच्छज्ञदननिवासविद्या विहार व्यवसाय-कार्य व परोपकार, की उचित व्यवस्था को बिना किसी भेदभाव के स्वीकारता है। अर्थात् 'मानवसंघ' के अभ्यदुय के लिए हर व्यक्ति की योग्यता सामर्थ्य से लाभ उठाना सबके लिये 'अन्नवस्त्रगृहशिक्षा' का समुचित प्रबन्ध करना राज्य का उद्देश्य निर्धारित करता है।

आर्यसमाज, उत्तम आर्यनागरिकों के द्वारा एक ऐसे 'मानवसमाज' का निर्माण कर रहा है, जिसमें उच्च-नीच, गरीब अमीर, शोषक-शोषित सब भेदभाव मिट जावेंगे। एक ऐसे प्रेम युक्त विश्वासपूर्ण, सेवामय वातावरण की सृष्टि करना चाहता है, जो प्राणिमात्र में एकता लाकर 'अत्याचारी' पशुमानव को 'सच्चा मानव' बना दे।

संसार के समस्त महापुरुषों, पीर-पैगम्बरों, साधु-सन्तों, विद्वानों, नेताओ; आदर्श पुरुषों; का यथायोग्य मान करता है। हर एक मत और मत वालों के प्रति सहिष्णुता का भाव रखता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती को क्रान्तिकारी युगपरिवर्तक वैदिक धर्म चक्र प्रवर्त्तक, प्राचीन आर्य संस्कृति का पुनरुद्धारक, समाज-सुधारक, विश्वइतिहास में नवयुग निर्माता, भारतवर्ष की चतुर्मुखी उन्नति का जनक राष्ट्रपितामह, उत्तमसंगठनकर्त्ता, अद्भुत

आन्दोलनकारी और इस समाज का संस्थापक मानता है।

निःश्रेसय-प्राप्ति

सृष्टि में जीव स्वतन्त्रतापूर्वक जैसा शुभाशुभ कर्म करता है, उनको तदनुसार सुख दुःखात्मक फल भोगने के लिए वैसे ही योनि (शरीर, जन्म, देहान्तर प्राप्ति) अर्थात् पुण्य कर्म से उत्तम जन्म और पाप कर्म से निकृष्ट जन्म मिलता है। इस प्रकार कृमि, कीट, मत्स्य, पिपीलिका, मण्डूक, पतंग, मधुमक्खी आदि (तथा स्थावर वृक्षादि) रूप में तथा मानव रूप में जन्म लेकर जीव इस सृष्टि में अपना 'अच्छा बुरा' करता है।

मनुष्य जन्म में वह युक्ति और ज्ञानसहित पुरुषार्थ करके अनुकुल (=शुभ) तथा अज्ञानपूर्वक आचरण से प्रतिकूल (=अशुभ) परिस्थिति बनाता है। इस प्रकार अपना जीवन चक्र चलाते हुये वह अपने पिछले कर्मों का फल भोगता और आगे के लिये नये कर्म स्वतन्त्रतापूर्वक करता है और पापपुण्य से सुख दुःख उठाता रहता है। परन्तु उसका चरमलक्ष्य 'मोक्ष' प्राप्ति है। जब तक वह पाप + दुःख से छूट नहीं जाता अर्थात् ज्ञानपूर्वक अभ्यास वैराग्य द्वारा उसका पाप मोचन हो उसका दुःख संकट कट नहीं जाता, तब तक उसे अपने पुण्यों का फल स्वरूप उत्तम सुख प्राप्त नहीं हो सकता। जीव को पाप-कर्म और पाप वासना (तथा पापेच्छा, पापकामना) दोनों से मुक्त होना चाहिये, तभी दुःख से अत्यन्त निवृत्ति होगी।

ऊपर वर्णित 'आर्य सिद्धान्त' उसे इस दशा में ले जाने के सर्वोत्तम साधन हैं। पंचमहायज्ञ, षोडश संस्कार और वर्णाश्रम व्यवस्था ऐसी पद्धतियां हैं, जिनसे मनुष्य के मन में पापेच्छा उठती नहीं और उसकी पापकर्म में प्रवृत्ति घटती जाती है। इस प्रकार

'निवृत्ति' होने से उसकी पापवासना का क्षय होता जाता है और अपनी शारीरिक, मानसिक उन्नति कर लेता है। पापकर्म न रहने से उसके दुःख समाप्त होते जाते हैं और प्रारब्ध से नियत दुःखों का अन्त हो जाता है। उसके कर्म पुण्यात्मक हो जाने से, आगामी जीवन के लिये सुख का मार्ग खुल जाता है।

दुःख और पाप

त्रिविध दुःख - (1) शरीर और मन सम्बन्धी (आधि-व्याधि) दुःख आध्यात्मिक हैं; जैसे ज्वर, शिरोवेदना, अतिसार, अर्धांग आदि शारीरिक, और ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, अधैर्य, चिंता आदि मानसिक। (2) दूसरे प्राणियों से होने वाले सभी दुःख आदि आधिभौतिक हैं; जैसे सांप का काटना, शत्रु का आक्रमण, टिड्डी दलका आक्रमण, मूषक मार्जार कृत, चोरी हो जाना, किसी का झूठा मुकदमा चलाना, अपवाद लगाना आदि आदि। (3) अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, अग्नि भय, अति ताप, अति शीत, अकाल, विद्युत्पात आदि आधिदैविक। इन्हीं को तापत्रय या दुःखत्रय भी शास्त्रों में कहते हैं। इन सब दुःखों का कारण अविद्या होती है।

दशद्या पाप- मनुष्य शरीर, वाणी और मन से पाप (=दुष्ट कर्म) करता है। हिंसा (प्राणघात) चोरी और व्यभिचार (परस्त्रीगमन, परपुरुषगमन) ये तीनों कायिक (शारीरिक) पाप हैं। असत्यप्रलाप (असम्बद्ध भाषण, झूठी बकवास) कटुभाषण (व्यंग्य गाली गलौज) चुगली करना और असत्य भाषण ये चारों वाचिक पाप हैं। परधन की अभीप्सा दूसरे से द्वेष करना, नास्तिकता (कर्मफल का न मानना) ये तीनों मानसिक पाप हैं। इस प्रकार दशधा पाप की प्रवृत्ति होती है।

जीव जब निर्हेतुक भाव (निष्काम भाव या केवल कर्तव्य बुद्धि से) पुण्यकर्म करते-करते आत्मज्ञानयुक्त उच्चतम अवस्था (तद्धाम परमं पदम्) तक पहुंच जाता है, तब वह मुक्त (द्वन्द्वातीत, निस्त्रैगुण्य, दुःख-निवृति, पापरहित) हो जाता है। उस समय वह भौतिकशरीर रहित दशा में (ज्ञान व आनन्दपूर्वक) स्वतन्त्र विचरता हुआ, नियत समय परान्तकाल तक ईश्वर के आनन्द में ही मग्न रहता है। उस समय तक उसे लवलेश भी दुःखकणिका नहीं चुभती।

मुक्ति में जीव परमेश्वर में लीन (एक नहीं) हो जाता है परंन्तु वह जीव अपने शुद्ध स्वरूप में विद्यमान रह ब्रह्म से पृथक् रहता हुआ विज्ञान आनन्द पूर्वक उसमें स्वतंत्रता से सुख ही सुख भोगता है वह अपनी सत्ता खो नहीं बैठता। जीव के नाश को मुक्ति समझना अशुद्ध है।

नियत समय पर्यन्त इस मुक्ति सुख को भोग, जब मुक्ति की अवधि पूरी हो जाती है।, तब वहां से छूटकर पुनः माता-पिता के सम्बन्ध से साधारण मनुष्यों का शरीर धारण कर संसार में आता है। इस शरीर में यदि वह पुनः निर्हेतुक पुण्य कर्म करता है, तो फिर मुक्त हो जाता है और यदि सहेतुक 'पाप कर्म' करता है, तो नीचे की योनियों में चक्र आरम्भ हो जाता है।

मुक्ति के साधन

इस जन्म-मरण के बन्धन से छूट मुक्त (पूर्णरूप से स्वतन्त्र) होने का तथा परमानन्द की प्राप्ति का एकमात्र उपाय सदाचार पूर्ण, यमनियमादियुक्त, योगाभ्यास तथा ईश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना है। इसके लिए अनिवार्य रूप में व्यक्ति विशेष को

गुरु पैगम्बर अथवा देवपुत्र मानकर उसकी पूजा और किसी पुस्तक विशेष में विश्वास करना अनावश्यक और निरर्थक है।

आर्य, आर्यसमाज, आर्यसमाजी

ऋषि दयानन्द ने वेदों के आधार पर जिस 'आर्य-दर्शन' का मानव जाति के अभ्युदय-निःश्रेयस के लिये अपने ग्रन्थों में प्रतिपादन किया है, जो सर्वोदयी 'आर्य सिद्धान्त संग्रह' किया है, संक्षेप में उसकी रूपरेखा का वर्णन किया गया है।

'आर्य सिद्धान्त' वेद धर्म के विस्तृत रूप (व्यावहारिकरूप) के अतिरिक्त कुछ नहीं। उनको मानने वाले 'आर्य' हैं। ऐसे आर्य जब संगठित होकर उसका प्रचार करने का संगठित प्रयत्न करते हैं, तो उस संगठन का नाम 'आर्यसमाज' होता है। परन्तु जो भी व्यक्ति इन सिद्धान्तों को अपने 'जीवन का दर्शन' मानता है, वह आर्य है। उसके लिए भी मुक्ति का द्वारा खुला हुआ है।

परन्तु ज्यों ही वह इनको अपने में चरितार्थ कर अर्थात् स्वयं आर्य बनकर अन्यों को आर्य बनाने का प्रयत्न करने के लिये आर्यसमाज का सदस्य बन जाता है उसका नाम 'आर्य समाजी'★ हो जाता है। और-

आर्यसमाज के सदस्य बनने के लिये आर्यसमाज के दस नियमों, महर्षि दयानन्द के स्वमन्तव्यामन्तव्य में वर्णित 51 सिद्धान्तों तथा आर्योदेश्यरत्नमाला के मन्तव्यों में विश्वास और वेदों में वर्णित महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुये तदनुकुल आचरण आवश्यक हैं। आर्य समाज को अपने आय का सतांश भी देना चाहिये।

★*आर्यसमाज के नियम-उपनियमों में इसकी आर्य सभासद् संज्ञा है।*

आर्यसमाज के नियम

1- सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उस सब का आदिमूल परमेश्वर है।

2- ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी का उपासना करनी योग्य है।

3- वेद, सब सत्य विद्याओं की पुस्तक हैं। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

4-सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिये।

5-सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर के करने चाहिये।

6- संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है। अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

7- सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिये।

8- अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चहिये।

9- प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये। किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

10- सब मनुष्यों को समाजिक सर्व हितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।

ये दस नियम ऋषि दयानन्द द्वारा स्थापित विश्व में शांति के सन्देश वाहक और धर्म के अग्रदूत आर्यसमाज के सिद्धान्तों का

मूल संग्रह हैं। जैसे दस इंन्द्रियों से शरीर चलता है, वैसे ही ये भी आर्यसमाज की दश इन्द्रियां हैं। ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित 'दशकं धर्मलक्षणम' हैं और शांति के घोषणापत्र की ये आधारभूत शिलायें हैं। ये वैदिक सिद्धान्तों के आधार पर ही निश्चित किये गये हैं। इसलिये आर्य वेदान्त के जिज्ञासु, आर्य धर्म और आर्य संस्कृति के भक्तजन, इन नियमों के गम्भीर अनुशीलन से मानवजीवन को ऊंचा उठाने वाले उन सत्य आदर्शों का सम्यग ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और मानवता के धर्म का वास्तविक मर्म पहचान सकते हैं; जिनसे अभ्युदय और निःश्रेयस का मार्ग साफ हो जाता है तथा इहलोक एवं परलोक सुधरते हैं।

उस ऋषि की चर्मचक्षु के सामने भारतवर्ष की दुर्दशा और नाना रूपों वाली पराधीनता थी। परन्तु, उसके मानसचक्षु उस दिव्यदृष्टि से अलोकित थे, जिनसे विश्वरूप सन्दर्शन होता है। इसलिये उसने जो कुछ सोचा, जो कुछ लिखा, जो कुछ कहा और जो कुछ किया, वह समस्त विश्व के हित की भावना से ही था। इस पर आचरण करने से सबका उद्धार हो सकता है। उसके द्वारा निर्धारित धर्म ऐसा है, जो सर्वोदय कर सकता है; अशांत क्षुब्ध संत्रस्त संतप्त विश्व को शान्ति दे सकता है। मतमतान्तरों के झगड़े और अर्थकाम में आशक्ति के कारण स्वार्थ की वृद्धि, ये दो कारण हैं, जिनसे सर्वत्र असन्तोष और परस्पर अविश्वास फैलता है। ऋषि ने कहा इसके निवारण के लिये मनुष्यता को छोड़ 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'। मनुष्यता क्या है, धर्मानुकुल आचरण, परहित के लिये स्वहितत्याग और सबकी उन्नति में अपनी उन्नति की समझ, व्यक्ति की पूजा का त्याग और सब भूतों में महान् आत्मा

के सूत्र का ग्रहण, मतमतान्तरों में आग्रहबुद्धि का पूर्ण परित्याग, और सदा सत्यग्रहण एवं असत्यत्याग में निस्संकुचित तत्परता। इन्हीं के सग्रह रूप में ऋषि ने दशसूत्रों में सब कुछ कह दिया है।

यदि सब मनुष्य 'सब सत्यविद्या' का आदि प्रेरक परमेश्वर को मान लें, तो व्यक्तियों के नाम पर चले मतसिद्धान्तसम्प्रदाय मिट जावें और धर्म का प्रचार हो। ऐसे ही, 'जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं' उनका आदिमूल परमेश्वर को समझें; तो निरभिमान हों उदार बनें। (*प्रथम नियम*)

यह तभी हो सकता है, यदि मनुष्य उस आदिमूल परमेश्वर के सत्स्वरूप को जान लें और यह समझ लें कि उसी की उपासना करनी योग्य हैं, (द्वितीय नियम) व्यक्तियों की पूजा करना, अज्ञान और मतमतान्तर के झगड़े खड़ा करना है।

ऐसी स्थिति में आने के लिये ऐसा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, जो सर्वकाल-सर्वावस्थायु एक सा हो। 'वेद सब सत्यविद्याओं' का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनाना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। (*तृतीय नियम*) यदि सब इनकी शिक्षाओं के अनुसार आचरण करें, तो 'मतमतान्तारों के झगड़े' और 'अर्थकाम से आसक्ति के कारण बढ़ी स्वार्थ बुद्धि' दोनों पनपने न पावें।

यदि सब मनुष्य, सब देशों के नेता, 'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सर्वदा उद्यत रहे' तो फिर मतमतान्तरों के झगड़े बुराई पैदा ही कैसे हो? परस्पर अविश्वास क्यों कर हो? जब अविश्वास नहीं, तो सबको जीवन का भरोसा मिले और सबके प्रति सब अनुरक्त रहें (*चतुर्थ नियम*)।

फिर 'सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर' (*पांचवां नियम*) ही हों। जब ऐसा हो गया, तो पोलिटिकल-पार्टी बाजी अर्थात् दलबन्दी समाप्त। जो भी व्यक्ति शासन सभाओं में जावेंगे, उनका टेस्ट उनका 'सत्य और असत्यमय' आचरण होगा। यदि वह 'असत्यमय' ज्ञात होगा, तो 'उसके छोड़ने में तत्पर' रहेंगे। परिणामतः विश्व के सभी नेता आप्त धार्मिक, सत्यदर्शी, सत्यमानी सत्यवादी सच्चरित्र परोपकारी होंगे। जब सर्वत्र सत्यवादियों का शासन और मान होगा, तो मतमातन्तर कहां रहेंगे?

तब सबका मुख्य उद्देश्य अपने पार्टी हित से हटकर 'संसार का उपकार करना अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना' होगा। (*षष्ठ नियम*) जहां भी, जैसा भी, जिसे भी कष्ट होगा, सब उसे मिलकर निवारण करने में लग जावेंगे। रुपये मदद के लिये भेजे जावेंगे; पर बाये हाथ को मालूम न होगा। अनाज अकलाग्रस्त स्थानों पर भेजा जावेगा, परंतु उसकी वसूली की शर्तो। का निश्चय तो क्या, उसका विचार भी मन में नहीं उठेगा। और

'सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथाग्योग' बर्तने (*सप्तम नियम*) के भावों का विकास होगा। मनुष्य, मनुष्य से प्रीति करेगा, अच्छे बुरे को समझ यथायोग्य धर्मानुगामी बनेगा। दुनियां की राजनीति से अन्याय अधर्म नष्ट होगा। राष्ट्रों के विश्वसंघ में सबसे 'यथायोग्य' प्रतिनिधियों को बिना शर्ते समान प्रतिनिधित्व मिलेगा।

इतनी ही तो गलतफहमी है, ना समझी है, अविद्या है- 'इस अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये' (*अष्टम*

नियम) पार्टी बाजी और मतमतान्तर अविद्या के कारण है, मनुष्य का अर्थकाम में आसक्त होना अविद्या मूलक ही है। जब अविद्या अन्धकार मिट जावेगा, तो सब कहेंगे, भाई! देखो प्रत्येक को अपनी उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

(नवमनियम)

ऐसा सदाचार नियम हो जाने पर, सबकी शिक्षादीक्षा इस नीति पर होने से, सब देश दूसरे पड़ौसी-देशों का ख्याल करेंगे। शोषण बन्द हो जावेगा, आर्थिक या सामुद्रिक-नाकेबन्दी 'मनुष्यों के इतिहास' के पृष्ठों तक ही सीमित रहेगी और विश्व इतिहास की वे अन्याय अत्याचार की लाल रेखायें मिटती सी नजर आवेंगी। आंख दिखाई नहीं जावेगी, तो -फोड़ेगा कौन ?

अगर ऐसी स्थिति को निरन्तर स्थिर रखना है, तो 'सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें। (दशम नियम) सब को ऐसी ट्रेनिंग देनी पड़ेगी।

यही मनुष्यता का अमर सन्देश है, जिसे सृष्टि के आदि में भगवान ने चार ऋषियों को दिया था; जिसे मनु महाराज ने क्रम बद्ध किया था और जिसे एक बार फिर वर्तमानयुग में इस सुचेता सुक्रत ऋषि दयानन्द ने संसार को देने के लिए इन दश-नियमों के रूप में अविर्भूत किया है।

अन्तिम निवेदन

आर्य समाज के सिद्धान्त एवं कार्य देश और राजनीति के लिए कितने उपयोगी हैं, इस पर सबको गंभीरता से विचार करना

चाहिए। यदि आप आर्यसमाज द्वारा संचालित व आयोजित काम के किसी विभाग से सहमत हैं और सर्वोदय के सिद्धान्त को मानते हैं तो इसके साथ मिलकर देश और मानव जाति की उन्नति में भाग लीजिये। आर्यसमाज का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि प्रत्येक परोपकारी मनुष्य इसमें आकर परिस्थिति एवं अपने मत के अनुकूल कार्य को चुन सकता है।

यदि आपको मांसभक्षण-जीवहिंसा-मद्यपान-गोवध आदि का निषेध करना है; तो आर्य समाज से मिलकर इस बुराई को विश्व से दूर करने का प्रयत्न कीजिये।

यदि आपको देश और संसार में प्रचलित अनीति-अनाचार चोरबाजारी चुभती है, तो आप इसके साथ कन्धा मिलाकर धर्म और मानव सेवा के सिद्धान्तों का प्रचार कीजिये।

यदि आप नास्तिकता और अवैदिकता (=अज्ञानता) के दुष्परिणामों को मन से समझ गये हैं, तो तब भी आपके कार्य के लिये यहां पूरा मौका है।

यदि आप 'कुल वर्ण जाति मत' के नाम पर प्रसिद्ध ऊंच-नीच के भेदों को विश्व से मिटाना चाहते हैं, तो आपको जितनी सुविधायें यहां तक मिलेंगी उतनी अन्य संस्था में नहीं।

यदि स्त्री जाति की उन्नति में आप अपनी उन्नति समझते हैं, तो भी आर्यसमाज द्वारा आपको जितना-विस्तृत कार्य क्षेत्र मिलेगा, उतना अन्य स्थानों पर नहीं।

यदि आप अनाथ निराश्रय पीड़ित जन की सच्ची सेवा करना चाहते हैं, तो सच्चे निष्काम सेवक साथी आपको यहीं मिलेंगे।

यदि आप अपनी आध्यात्मिक उन्नति करना चाहते हैं, तो उसके लिये भी आर्य समाज आपके सामने अधिक से अधिक उत्तम सामग्री और वैज्ञानिक योग पद्धति अर्पित करता है।

जहां व्यक्तियों को अपने जीवन को समुन्नत और सुखी बनाने के लिये आर्यसमाज ने मार्ग बताया है, वहां भूमण्डल के समस्त राष्ट्रों को भी आर्यसमाज प्रेरणा करता है कि वे अपने-अपने राज्यों का निर्माण इन्हीं आदर्शों, नियमों व सिद्धान्तों के आधार पर बनावें, जिससे समस्त विश्व में जनकल्याण, शांति और सुखी जीवन की स्थापना हो सके। भारत की वर्तमान-परिस्थिति में तो ये दश निमय और आदर्श-आर्य सिद्धान्त भारत में सुख-शांति स्थापित करने के अचूक और परम उपयोगी उपाय हैं।

'*आर्य सिद्धान्त*' किसी व्यक्ति की उपज नहीं, इसलिये ये 'मत' रिलिजन नहीं। ये तो वेदधर्म रूप पुष्प की क्रमबद्ध पंखुड़ियां हैं, जिनकी सुमधुर वासना से पाप और दुःख की दुर्गन्ध कट जाती है। यदि इहलोक में सर्वविध सुख और परलोक में परमानन्द की प्राप्ति करनी है, तो हे ईश्वरपुत्र!

क्रतो! तू,

ओ३म शरणं गच्छ!
सत्यं शरणं गच्छ!!
धर्म शरणं गच्छ!!

और गुरु दयानन्द के चरणों में नमस्कार करके, परमगुरु ईश्वर का श्रद्धाभक्ति से अन्तरात्मा में ध्यान करके यह शिव संकल्प धारः

ओ३म् शरणं गच्छामि!
सत्यं शरणं गच्छामि!
धर्म शरणं गच्छामि!!

आर्यसिद्धान्त-प्रदीप

आज से इक्कीस वर्ष पूर्व मैं जब वैदिक धर्म और आर्य-संस्कृति के प्रचारक के रूप में दक्षिण भारत के आंध्रप्रदेश में आया, तो उस समय महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों का अध्ययन निरन्तर करने लगा। उनके नाम से छपे प्रायः सभी ग्रन्थों को देखा।

उस समय यह निश्चय हुआ कि ऋषि द्वारा प्रतिपादित 'आर्य दर्शन की रूपरेखा' जब तक विश्व के सामने नहीं आयेगी। तब तक सर्वत्र शांति, स्वस्ति और अभय का होना कठिन है। ऋषि के ग्रन्थों में बहुत कुछ है; परंतु उस सारे को पढ़कर 'क्रमबद्ध दर्शन' का चित्र सहसा नहीं बनता। अपने मस्तिष्क में उस चित्र को बड़े परिश्रम से पर्याप्त समय लगाकर तैयार किया। उसका प्रारूप 'आर्य-सिद्धान्त-प्रदीप' का छोटा संस्करण ई. सन्1954 में निकाला। अब यह उसका बृहत्रूप तैयार है।

आर्य सिद्धान्त मुक्तावली

ऋषि दयानन्द ने जिन-जिन पदार्थों को जैसा-जैसा माना है, वैसा 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' तथा 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' में उल्लेख किया है। परन्तु उन मन्तव्यों के अतिरिक्त कुछ का तथा उन मन्तव्यों का भी अधिक स्पष्ट विवरण उनके अन्य ग्रन्थों में अत्रतत्र है। इस ग्रन्थ में उन सब मन्तव्यों का संग्रह बड़े परिश्रम और योग्यता से किया गया है। इसमें प्रत्येक मन्तव्य लक्षण रूप में दिया गया है। इसका द्वितीय संस्करण तैयार है।

कैसे प्रकाशन करूं ? आर्य-ब्राह्मण ने तैयार किये हैं, क्या कोई आर्य-वैश्य इन्हें मुद्रित कर लोकसंग्रह करेगा ?

-मदनमोहन विद्यासागर

विश्वगीत

(मदनमोहन विद्यासागर)

वेदों में मानव-जीवन के प्रत्येक पहलू पर यथार्थ विचार किया गया है। ये मनुष्य के जीवन में सच्चे मार्गदर्शक हैं। इनका किसी जातिमत से कोई सम्बन्ध नहीं। ये सब सत्य विद्याओं के आदिस्त्रोत और मानव-संस्कृति के प्रतीक हैं।

'मनुर्भव तथा 'नृभिः नृवन्तः स्याम'

'सच्चे मनुष्य बनों' तथा हमारा समाज अच्छे मनुष्यों के कारण सच्चा मानवसमाज बने' ऐसा इनका उपदेश है।

इस महान ग्रन्थ में एक 'अन्तःराष्ट्रीय' गान है, जिसे इस भूमि मण्डल को एक शासन समझ, प्रत्येक मनुष्य अपना कह सकता है। अन्तर्जातीयवाद के इस वैज्ञानिकयुग में विश्व में प्रचलित 'राष्ट्रगीतों' की तुलना में **'विश्वगीत'** का संकलन विद्वान् लेखक की मौलिक कल्पना है, जो लेखक के गंभीर स्वाध्याय, अद्भुत-पाण्डित्य और शुद्ध-चिन्तन का परिणाम है। विश्व की आद्यकृति वेद में से उन उदात्त भावनाओं का यह सुन्दर संग्रह अवश्य ही हिन्दी भाषा-भाषियों के लिये बहुत उपयोगी है। भारतीय संस्कृति का यह उज्जवलतम चित्र है। इस रचना के कारण चिरकाल तक विद्वत्समाज लेखक का ऋणी रहेगा। वैदिक साहित्य

में अनुपम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के विश्व की समस्त भाषाओं में अनुवाद की आयोजना शीघ्र से शीघ्र हो जानी चाहिये; ताकि 'अन्तर्मानववाद' का प्रचार बढ़े।

पं. ब्रह्मदत्त स्नातक, शास्त्री आयुर्वेदाचार्य एम.ए.
भूतपूर्व सम्पादक 'आर्य मित्र' (लखनऊ) व 'पुण्यभूमि' (देहली)

elibrary.thearyasamaj.org